शिवसंकल्प-सूक्त

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

शिवसंकल्प-सूक्त

रचयिता :

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलन :

श्रीनारायणी

शिवसंकल्प

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी महाराजने अनेक वैदिक मन्त्रों पर बड़ी रम्य व्याख्या प्रस्तुत की है। उनमें बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, यजुर्वेदके शिवसंकल्प सूक्तके मन्त्र। ये कुल छः मन्त्र हैं। इन छः मन्त्रोंमें एक ही कामना है, कि मेरा वह मन जो इतना व्यापनशील है, शिवसंकल्प युत हो। शिवसंकल्प लेना मनको नियन्त्रित करना है, इधर-उधर भागनेसे रोकना है। परमार्थकी ओर इसे मोड़ना है और मोड़ते ही रहना है। यह संकल्प तभी लिया जा सकता है, जबकि मन प्रत्येक अवस्थामें चाहे मनुष्य सोता हो, जागता हो, या स्वप्न देखता हो, अपनेको प्रकाशके अंशके रूपमें ही देखता हो। इन मन्त्रोंकी व्याख्यामें स्वामीजीने प्रत्येक पदकी विशद व्याख्या की है। स्वामीजीकी भाषा बड़ी प्रसन्न और गम्भीर होती है। वे प्रत्येक पदके पूरे सन्दर्भमें जाते हैं। जहाँ-जहाँ वेदोंमें उस शब्दका सन्दर्भ आया है, उसको उद्धाटित करते हुए एक समग्र अर्थ निकालनेकी विधि अपनाते हैं। उनकी व्याख्या पढ़कर कोई भी मन्त्र अपने आप जागृत हो जाता है और पूर्वापर सम्बन्धसे जुड़कर समग्र हो जाता है।

शिवसंकल्प सूक्तमें क्रमशः प्रकाशरूप चैतन्यसे कर्म, कर्मसे प्रज्ञान, प्रज्ञानसे सम्पूर्ण वितान, सम्पूर्ण वितानसे और उससे सम्पूर्ण मन्त्र राशि और मन्त्र राशिसे इन सबकी परस्पर सम्बद्धता तक क्रमिक यात्रा मनकी होती है और इस यात्रामें मन इन सबके साथ एकाकार हो जाता है।

इस व्याख्याका उद्देश्य स्वाध्यायको जगाना है। स्वाध्यायका मूल अर्थ है, 'स्व'को अच्छी तरह समझना और बार-बार समझना। वेद नाम केवल ज्ञानका नहीं है अपितु जागते रहनेके निरन्तर व्यापारका भी है। वह प्रत्येक कर्मके साथ सन्निहित रहता है वेद मन्त्रका उच्चारण करते हुए अनुष्ठान करते हैं। अनुष्ठान करते हुए वेद मन्त्रोंको समझते हैं। इस प्रकार वह कर्म स्वयं ज्ञान हो जाता है। ब्राह्मणोंमें फलश्रुतिके रूपमें यह वाक्य बराबर मिलता है--**य एवं कुरुते य एवं वेद।**

जो ऐसा मानता है और जो ऐसा करता है। दोनों ही समान फलभागी होते हैं। पूज्य स्वामीजी वेदको और वेद मन्त्रोंको जीवनमें उतारनेवाले व्यक्ति थे। वे वेदमन्त्रोंको परायण तक सीमित नहीं रखना चाहते थे। इसीलिए इन गम्भीर अर्थोंका रहस्य उन्होंने खोलनेका प्रयत्न किया और ऐसा किया कि उसके साथ सामान्य बुद्धिका व्यक्ति भी हो ले। वेदोंकी सार्थकता यही है, कि वे हमारी जीवनधारामें बहते रहे हैं। वे हमारी कर्मशीलताको परमार्थसे जोड़ते रहे हैं और हमारी भेदबुद्धिको अभेदबुद्धिमें परिवर्तित करते रहे हैं।

स्वामीजी शिवसंकल्प सूत्र पर व्याख्या अपने आपमें एक सम्पूर्ण यात्रा है द्वैतसे अद्वैतकी ओर। पहले द्वैतका, पहले विभाजनका आरोप करके उसे अद्वैतमूलक दिखाना ही वेदका परमार्थ है और यही सृष्टिका परमार्थ है।

--विद्यानिवास मिश्र

सत्यं शिव सुन्दरम्

प्रस्तुत 'शिवसङ्कल्पसूक्त-प्रवचन'के संकलन संपादनके साथ एक आनन्दप्रद संस्मरण हृदयमें उभर आया। परमपूज्यश्री महाराजश्रीको जब एक व्यक्तिने उनके ग्रंथोंके प्रकाशनके सन्दर्भमें कॉपीराइटके लिए पूछा, तो वह तुरन्त अपनी दाहिनी भुजा उठाकर बड़ी दृढ़तासे घोषणा करते हुए बोल पड़े—

'मेरी वाणी ईश्वरीय वाणी है। इसका प्रकाशन कोई भी व्यक्ति और कोई भी संस्था कर सकती है। इस पर किसीका एकाधिकार नहीं है। यह सबके लिए है।'

यह है परमपूज्यश्री महाराजश्रीका शिवसङ्कल्प। इस एक ही सङ्कल्पमें उनके प्रेम, करुणा, कृपा, ज्ञान-वैराग्य, योग, भक्ति, धर्म आदि सब कुछ सर्वजनहिताय-सर्वजनसुखाय ओतप्रोत है। यही उनका श्रेय-प्रेय समन्वय है और यही उनकी निष्कामता है। सत्यं-शिवं-सुन्दरम्की आराधनाके लिए शिवत्त्वसे अनुगृहीत यह शिवसङ्कल्प वैदिक सनातन धर्मका ऐसा अमर संदेश है, जो अपने वाङ्मय श्रीविग्रहके रूपमें लोकार्पणके लिए उद्यत और उत्सुक है।

यह शिवचैतन्य वक्ता-श्रोता-पाठककी एकात्मकतामें अनुभवस्वरूप है। इसीलिए **परमपूज्यश्री महन्तजी महाराज** और **परमपूज्य श्रीस्वामी गोविन्दानन्दजी** शिवचैतन्यसे प्रेरित होकर इसको लोकभोग्य व्यावहारिक रूप देनेके लिए तत्पर हैं। मैं उनके प्रति इस अलौकिक आनन्दप्रद अनुष्ठानके लिए कृतज्ञ हूँ।

जिनके लिए साधारणका असाधारणीकरण और असाधारणका साधारणीकरण अपनी ब्रह्मदृष्टिका विलास-विकास है, और जिनका प्रत्येक शब्द सिद्धवचन है, ऐसे सहज वाक्सिद्धिके प्रणेता हमारे महाराजश्रीके श्रीचरणोंमें सादर सप्रेम प्रणाम।

—श्रीनारायणी

दशहरा— ३-१०-९५
वृन्दावन

शिवसंकल्प-सूक्त

ॐ

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

शिवसंकल्प-सूक्त

ॐ

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

शिवसंकल्प-सूक्त

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ १॥

जो जागते हुए पुरुषका दूर चला जाता है और सोते हुएका वैसे ही निकट आ जाता है, जो परमात्माके साक्षात्कारका प्रधान साधन है, जो भूत, भविष्य, वर्तमान, सन्निकृष्ट और व्यवहित पदार्थोंका एकमात्र ज्ञाता है तथा जो विषयोंका ज्ञान प्राप्त करनेवाले श्रोत्रादि इन्द्रियोंका एकमात्र प्रकाशक एवं प्रवर्तक है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो॥ १॥

येन कर्म्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ २॥

कर्मनिष्ठ एवं धीर विद्वान् जिसके द्वारा यज्ञीय पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करके यज्ञमें कर्मोंका विस्तार करते हैं, जो इन्द्रियोंका पूर्वज अथवा आत्मस्वरूप है, जो पूज्य है और समस्त प्रजाके हृदयमें निवास करता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो॥ २॥

यत्प्रज्ञानमुतचेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ३॥

जो विशेष प्रकारके ज्ञानका कारण है, जो सामान्य ज्ञानका कारण है, जो धैर्यरूप है, जो समस्त प्रजाके हृदयमें रहकर उनकी समस्त इन्द्रियोंको प्रकाशित करता है, जो स्थूल शरीरकी मृत्यु होने पर भी अमर रहता है और जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता, वह मेरा मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो॥ ३॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ४॥

जिस अमृतस्वरूप मनके द्वारा भूत, वर्तमान, भविष्य सम्बन्धी सभी वस्तुएँ ग्रहण की जाती हैं, और जिसके द्वारा सात होतावाला अग्निष्टोम यज्ञ सम्पन्न होता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो॥ ४॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिꣳश्चित्तꣳसर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ५॥

जिस मनमें रथचक्रकी नाभिमें आरियोंके समान ऋग्वेद और सामवेद प्रतिष्ठित हैं, तथा जिसमें यजुर्वेद प्रतिष्ठित है, जिसमें प्रजाका सब पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाला सम्पूर्ण ज्ञान ओतप्रोत है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो॥ ५॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं यविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ६॥

श्रेष्ठ सारथि जैसे घोड़ोंका सञ्चालन और रासके द्वारा घोड़ोंका नियन्त्रण करता है, वैसे ही जो प्राणियोंका सञ्चालन और नियन्त्रण करता है, जो हृदयमें रहता है,जो कभी बूढ़ा नहीं होता और जो अत्यन्त वेगवान् है, वह मेरा मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो॥ ६॥

शुक्ल्यजुर्वेदसंहिता० अ. ३४/मंत्र १-६

अनुक्रमणिका

			पृष्ठ संख्या
प्रकाशकीय	श्रीविद्यानिवास मिश्र		क
सत्यं शिवं सुन्दरम्			ख
शिवसंकल्प-सूक्त			ग
मंगलाचरण			१
प्रस्तावना			२
शिवसंकल्प-सूक्त			
मन्त्र-१			३
मन क्या है?, संस्कार और स्मृति			३
स्मृति विषयक वेदान्त मत; मन अर्थात् संस्कार जन्य ज्ञान			४
मनका स्वरूप, चार्वाक मत, न्याय वैशेषिक मत			५
जैन मत	६	सांख्य और योग	७
बौद्ध मत	८	पूर्व मीमांसा	९
उत्तर मीमांसा	१०	वैष्णव मत	११
शिव संकल्प-व्याख्या	१२	मन कैसा हो?	१३
मन कैसा है?	१४	मनकी छः विशेषताएँ	१५
शिव संकल्पका निश्चय, मनकी पंचतन्मात्राएँ			१८
मनः आयतनम्	२१	तीन अवस्थाएँ	२५
उपनिषद्में सुषुप्तिकी व्याख्या	२७	निष्कर्ष	२९
मनीरामको पहचानो			३०
मन्त्र-२			३३
मनकी विशेषताएँ	३३	धर्माधर्म विवेक और तत्त्व विवेक	४०
विज्ञान	४३	मनके चार विभाग	४५
दार्शनिक सिद्धान्त, धीर पुरुषका लक्षण			४६
शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक धैर्य, यक्षरूप विराट			४७
कर्मनिष्ठ पुरुषका लक्षण	४८	मनीषीका लक्षण	५०
बहादुर पुरुषकी आत्मनिष्ठा	५१	स्वस्थ जीवनमें यज्ञका स्वरूप	५३
भगवद् आराधना	५५	प्रजाकी सेवा	५६
मनस्तत्त्व	५७	मनकी शक्ति	५८
मनका निर्विषय स्वरूप	६१	मनरूप यक्षका सदुपयोग	६२
मनका केन्द्र	६३	**मनकी गौरव गरिमा**	६४
मनके स्वामी बनो	६५	यक्षका वशीकरण	६६
मनकी तटस्थता	६७	मन अमृत है	६८
ब्रह्मानुभव और स्मृति	६९	सत्यकी कसौटी, निष्कर्ष	७०
परिच्छिन्न अहंका नाश	७१	सर्वभूतहिते रताः	७२
मन्त्र-३			७३
प्रतिपत्ति-सामान्य और विशेष	७३	प्रज्ञानं ब्रह्म	७४
अशुद्धिका कारण-अहंकार			७५
शुद्धज्ञान, लक्ष्य और आलम्बनकी अनिवार्यता			७६
कर्म-व्यवस्थामें आलम्बन, उपासना			७७
विचार			७८
विचारमें आलम्बन, इदमात्मक, प्रतीकात्मक आलम्बन, वेदान्तमें आलम्बन क्यों? आलम्बन-ज्ञानशुद्धिके लिए			७९
निष्कर्ष, निरालम्बकी निरर्थकता, शान्तिकी प्राप्ति			८०
अज्ञान निवृत्तिके लिए विचारका आलम्बन, **प्रज्ञानम्**			८१
वेदान्तका महत्त्व, अध्यारोप अपवाद			८२
श्रद्धा, अमृत-ज्योति	८३	**मिथ्या परिच्छिन्नता**, कर्म साधना	८४
सर्ववृत्तिरूप मन, मनसे धर्माधर्म			८५
शास्त्रीय दृष्टिकोण			८६
मन्त्र-४			८७
साधनाकी प्रणाली	८८	**विवेकका क्रम**	८९
ईश्वर	९१	**यज्ञमें सप्तहोता**	९३
सिंहावलोकन			९४
इन्द्रियोंका स्वभाव, संस्कार, मनका धर्म			९५
श्रद्धा, अनेक इन्द्रियोंमें एक मन			९६
अपूर्व यक्ष, ज्ञानके दो प्रकार, जीवन निर्माणमें **वेदान्तका महत्त्व**, तत्त्व विचार			९७
जीवन्मुक्ति, मन सम्पूर्णज्ञानका आश्रय, यज्ञोंका **विस्तार**			९९
मन्त्र-५			१०१
मन-वेदोंका संग्रहालय	१०१	**मनमें वेदोंकी प्रतिष्ठा**	१०२
अज्ञान, आत्मसत्ता	१०३	भेदज्ञान	१०४
मन्त्र-६			१०५
ज्ञान, ज्ञानका प्रकाश			१०५
मनका निवास स्थान, अत्यन्त सूक्ष्मतम मनःशक्ति			१०७
मनकी पहचान, अद्वितीय ब्रह्मात्मैक्यबोध			१०९
परिशिष्ट :			
मनका वशीकरण			११०

मंगलाचरण

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नमः इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

भद्रमपि वासय मे मनः।

'हमारे मनको कल्याणसे भर दो'—

भगवानसे प्रार्थना करते हैं 'भद्रमपि वासयमे मनः।' कल्याण क्या है? भद्र क्या है?

यद् भजनीयं भवति।

जिसको हम प्राप्त करना चाहते हैं, जानबूझकर।

भवत् रमयति।

जिस भद्रके हृदयमें उदय होनेपर हम आनन्दमें मग्न हो जाते हैं।

'भवद्रमयति इति भद्रम्'—जो पैदा होते ही आनन्दसे भर देता है, उसका नाम 'भद्र' है।

भजनीयत्वात् भद्रं भवति।
भवद्रमणीयं भवति।

प्रस्तावना

*वेदमें जो 'शिवसंकल्प-सूक्त' आता है, हम बारम्बार सुनते हैं—'**तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**'—उसकी व्याख्या करनी है, आठ दिनमें इन छह मन्त्रोंके अर्थ बतायेंगे। कोशिश तो यही करेंगे कि पूरा हो जाय, परन्तु इसपर सामग्री भी बहुत है न! तो आपको धीरे-धीरे सुनायेंगे। वेदमें इसका नाम 'शिवसंकल्प-सूक्त' है। छह मन्त्र हैं इसपर और त्रिष्टुप् छन्द है। 'मनो दैवत्वम्'-इन छह मन्त्रोंका देवता मन है।*

पाँच इन्द्रियोंमें रह करके पाँच प्रकारका मन और एक उसका अलग स्वरूप है, वह छठा है। इसलिए पाँच इन्द्रियोंके सम्बन्धसे पञ्चधा और एक परमात्माके सम्बन्धसे षष्ठधा। इस प्रकार छह प्रकारका मन होता है, इसलिए इसके सम्बन्धमें छह मन्त्र दिये हुए हैं। यह मन्त्र ऋग्वेद और यजुर्वेदमें भी हैं।

मन्त्र असलमें मन्त्र होता ही तब है, जब वह मनका वर्णन करे। जो मनका वर्णन न करे, वह मन्त्र क्या होगा?

मननात् त्रायते इति मन्त्रः।

जिसका मनन करनेसे हमारी रक्षा हो, वह मन्त्र है।

ॐ भद्रमपि वासय मे मनः।

शिवसंकल्प-सूक्त

मन्त्र १

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ १॥

मन क्या है?

तन्मे मनः=मेरा मन।

मनके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न प्रकारके मत हैं। ग्राहक-ज्ञानको मन कहते हैं। ग्राहक-ज्ञान माने? इन्द्रियोंसे बाहरके विषयको देखकर, सुनकर, अनुभव करके उसमें जो संस्कारको पकड़ ले, उस ज्ञानका नाम मन है।

संस्कार और स्मृति-

देखो, हमने पचास वर्ष पहले एक दृश्य देखा था और वह हमको याद आता है। वह कहाँ याद आता है?

बोले कि हमारे ज्ञानमें ही उसका संस्कार संचित है और स्मृतिरूपमें उसका उदय हो जाता है। फिर उसी स्मृतिके आधारपर हम व्यवहार करते हैं। एक दिन आगमें हमारा हाथ पड़ गया था। जल गया था। अब हम आगेके लिए कर्तव्यका निश्चय कर लेते हैं कि आगमें हमको हाथ नहीं डालना चाहिए। यह जो स्मृति है कि 'आगमें डालनेसे हाथ जलता है'—यह कहाँ रहती है? इसपर मतभेद है।

स्मृति-विषयक वेदान्त-मत-

वेदान्तियोंका कहना है कि जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसमें यह स्मृति-विस्मृति बिलकुल नहीं रहती। वह तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप ही है। परन्तु हमारे शरीरमें एक मन नामकी चीज है, जो देखे-सुने-अनुभव किये हुए पदार्थकी स्मृति रखता है।

मन अर्थात् संस्कारजन्य ज्ञान-

अब देखो, कि यह जो संस्कारजन्य ज्ञान है उसमें और जो स्वतःसिद्ध ज्ञान है उसमें क्या अन्तर है? यह अन्तर है कि संस्कारजन्य ज्ञान पैदा होता है और फिर मिटता है, बीचमें बदलता है। उसका आश्रय भी होता है और विषय भी होता है। माने, यह ज्ञान किसीके बारेमें होता है। यह तो विषय हुआ। किसीको होता है, यह आश्रय हुआ। यह बदलता रहता है, यह अनेकाकारता हुई। पहले नहीं रहता है, उदय होता है और उदय होकर फिर नष्ट हो जाता है। अतः यह जन्म-मृत्युवाला अनेकाकार, सविषय और साश्रय जो ज्ञान होता है हमारे अन्तःकरणमें, उसको 'वृत्तिज्ञान' बोलते हैं। उसीको 'मन' बोलते हैं।

जो ज्ञान अखण्ड, एकरस रहता है, जिसमें न उदय है, न विलय है, सुषुप्तिमें भी जिसका लोप नहीं होता, जिसमें अनेकाकारता नहीं है, सविषयता नहीं है और साश्रयता भी नहीं है, वह ज्ञानस्वरूप आत्मा है।

व्यवहार हमारा जितना चलता है, यह व्यवहार ज्ञानस्वरूप आत्माके

सान्निध्यमें हमारा यह मन करता है। सारा व्यवहार और जितनी सविशेष अनुभूतियाँ हैं, वे सब-की-सब इसीमें संचित रहती हैं।

मनका स्वरूप–

चार्वाक मत—पहले-पहल मनुष्य जब इस मार्गमें चलता है, तो वह 'चार्वाक'वत् निश्चय करता है। 'चार्वाक' नामका कोई व्यक्ति है। इस बातको आप भूल जाइये। 'चार्वाक'वत्का अर्थ है, वह ज्ञानका एक स्तर है।

इस मतानुसार—'माता-पिताके रजोवीर्यसे यह शरीर पैदा हुआ। इसमें मिट्टी-पानी-आग-हवा ये चारों दीखते हैं। इन्हींके विशेष संयोगसे 'चेतनारूप मन'की उत्पत्ति इस शरीरमें हो गयी है।'

'आत्मा तो है चार भूतोंसे बना हुआ शरीर और वही उसका उपादान है। मनका उपादान भी वही है। उसमें जन्मके बाद और मृत्युके पहले यह मन नामकी चीज फुरफुराती रहती है। यह संस्कार ग्रहण करती है। इसीमें स्मृति होती है, इसीमें कल्पना होती है, इसीमें सारे सम्बन्ध होते हैं—'यह मैं है और यह मेरा है?' जब शरीर नष्ट होता है, तब यह मन भी नष्ट हो जाता है।'

'चार्वाक'ने इसके सम्बन्धमें ऐसा निश्चय किया।

न्याय-वैशेषिकमत–

न्याय और वैशेषिक ये हमारे दो दर्शन हैं। हम व्यक्तिको कोई प्रधानता नहीं देते। किस स्तरपर कैसा अनुभव होता है, उसका विश्लेषण करते हैं। तो यह जो शाश्वत अनुभव है, उसमें एक कर्ता है। चार भूतकी जगह पाँच भूत हैं, क्योंकि पाँच इन्द्रियाँ हैं, पाँच प्राण हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, पाँच विषय हैं। इन पाँच-पाँचके कारण भूत भी चार नहीं हैं, पाँच हैं।

एक अवकाशात्मक शब्दगुणक आकाश है; एक वायु है, जो स्पर्शगुणक और गतिशील है; एक उसके संघर्षसे उत्पन्न तेज है; एक उसकी द्रवता जो है, वह जल है और एक उसका जमा हुआ ठोस रूप पृथिवी है। कठोर पृथिवी है; द्रव जल है। गैस जो है वह तेजस् है, वह गैससे और ऊँचा रूप है। गतिप्रधान वायु है और आधारप्रधान आकाश है।

अगर हम विचार करके देखें, तो जो जगतकी मूल सत्ता है, उसमें भी इन पाँचोंका किसी-न-किसी प्रकार मूल प्राप्त होगा।

सबको धारण करना, यह पृथिवीका मूल है सत्तामें। सबको आप्यायित करना, यह जलका मूल है सत्तामें। सबको प्रकाशित करना, यह तेजका मूल है सत्तामें। सबको गति देना, यह वायुका मूल है सत्तामें और सबका अधिष्ठान होना, यह आकाशका मूल है सत्तामें। माने, एक ही सत्ता पाँच भूतोंके रूपमें प्रकाशित होती है, तो कोई कहते हैं परिणामीरूपसे।

'न्याय' और 'वैशेषिकों'ने 'चार्वाक'के मतका बड़े जोरदार ढंगसे खण्डन करके यह बात बतायी कि यह मन ही नहीं है, मनके भीतर एक कर्ता है। जब कर्ता कर्म करता है, तब उसके अनुसार संस्कार पड़ते हैं और यह मन शरीरके साथ जन्म नहीं लेता। यह मन शरीरके साथ नहीं मरता। इस मनका भी एक अंत:करणरूप से अस्तित्व है, जो शरीरसे परे है और भूत चार नहीं पाँच हैं; इनका स्वरूप सूक्ष्म है और नित्य है, कर्ता आत्मा इनसे बिलकुल जुदा है।

इस प्रकार 'न्याय-वैशेषिक' वालोंने 'चार्वाक' मतकी धज्जियाँ उड़ा दीं। उनकी भूतगणना भी काट दी और एक-एक पदार्थका वर्णन करके उनका विशेष-विशेष गुण बताया।

'जैन' मत :–

जैन-पक्ष ध्यान देने योग्य है। उन्होंने यह कहा कि—'जगत् नित्य है। इसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। यह ठीक है कि केवल मन ही नहीं है। इसमें कर्ता जीव भी है। वह कर्ता जीव अपने अन्त:करणके साथ जहाँ जाता है, वहाँ उतना बड़ा हो जाता है। जब वह साधना करके, अभ्यास करके शुद्ध हो जाता है, तब निर्मल-उज्ज्वलरूपमें प्रकट होता है।'

वह जो जीवात्मा है, वह न सत् है न असत् है। वह सत भी हो

सकता है, असत् भी हो सकता है और सदसत् भी हो सकता है। इस प्रकार उन्होंने सारी वस्तुओंका विचार 'स्याद्वाद'के अनुसार करके उनकी संगति लगायी।

'स्याद्वाद' दर्शनशास्त्रका एक बड़ा युक्तगम्भीर पक्ष है। स्यात्-स्यात्का अर्थ संशय नहीं होता है। वह कहते हैं—'यह हमारा निश्चयात्मक सिद्धान्त है।'

परन्तु उन्होंने कहा कि जगत्के मूलमें कोई ईश्वर नहीं है। यह जीवात्मा जो है, वह देहके बाद भी रहता है। यदि यह तीर्थंकर हो गया, तो इसको जगत्का भान हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। जगत् सत् भी हो सकता है और असत् भी हो सकता है।

तीर्थंकर-लोग कैसे भी होते हैं, परन्तु वे अत्यन्त उज्ज्वल-निर्मल होते हैं। सामान्यरूपसे सर्वसाधारणमें मलिन और निर्मल दो प्रकारका मन ही स्थित है।

सांख्य और योग—

जैन सिद्धान्तको लेकर हमारे योग और सांख्यने कहा 'अभ्यासजन्य उज्ज्वलता-निर्मलता आत्मामें नहीं होती, बल्कि स्वाभाविक होती है।' आत्मा द्रष्टा है। विवेकसे भी वह द्रष्टा है और अभ्याससे चित्तका निरोध हो जानेपर भी वह द्रष्टा है। इस 'त्वं' पदार्थके शोधनमें वेद-शास्त्र-पुराणकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि कोई विवेक करे, तो 'दृक्' और 'दृश्य' दो पदार्थ हैं। जो दृश्यको देख रहा है, वह द्रष्टा है। इसमें जैनोंका जो शरीर घटता-बढ़ता है, सो भी दृश्य है। जो उज्ज्वल, अणुरूपसे, परिच्छिन्न-रूपसे उनके जीवात्माकी स्थिति है, जिसमें भान-अभान कुछ नहीं होता, जिसमें सत्-असत् कुछ नहीं होता, जिसमें देशकी लम्बाई-चौड़ाई नहीं भासती है, जिसमें कालकी नित्यता-अनित्यता नहीं भासतो है, जिसमें द्रव्यका कार्य-कारण भाव नहीं भासता है, ऐसी एक अभानात्मक अवस्था जीवकी होती है और उसमें वह अपने उज्ज्वल रूपमें स्थित होता है।

सांख्य और योगने कहा—'यह जो आत्मा है, यह वस्तुतः द्रष्टा ही है। अभ्यासके उसकी उज्ज्वलता पैदा नहीं होती। यह स्वभावसे उज्ज्वल है और निर्मल भी है। यह ठीक है कि 'त्वं' पदार्थके ज्ञानके लिए बिना वेद-शास्त्रका आश्रय लिये भी यदि कोई एकान्तमें जा करके साधना करे और खूब ध्यानसे देखें, तो उसको यह सिद्ध हो जायेगा कि—'मैं केवल अपरिणामी ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, मैं द्रष्टा हूँ।'

योग और सांख्यने बिना वेदमन्त्रोंका आश्रय लिये ही चित्तवृत्तिके निरोधके लिए केवल विवेकसे द्रष्टाके रूपमें प्रकृति-पुरुषको सिद्ध कर दिया।

बौद्धमत—

इसके बाद बौद्धलोग आये। उन्होंने कहा—यह जो द्रष्टा और दृश्यके तुम्हारे विभाग हैं, यह सापेक्ष है। जब दृश्य होगा, तब द्रष्टा होगा और जब द्रष्टा होगा, तब दृश्य होगा। जब दो वस्तु परस्पर सापेक्ष होती हैं, तो उनमें-से कोई भी तत्त्व नहीं होता है। जैसे, पिता और पुत्र हैं। जब पिता और पुत्र हैं, तो उनमें-से एकको कहते हैं कि 'यह पिता है।' जो पिता है, वह किसीके पुत्र हैं कि नहीं हैं? वह अपने बापके पुत्र हैं। जब पुत्र है तो वे अपने पुत्रके पिता हैं कि नहीं हैं? अपने पुत्रके पिता हैं।

इसी प्रकार जगत्में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है कि जिसका पुत्रत्व, पितृत्व-सापेक्ष न हो और जिसका पितृत्व पुत्रत्व-सापेक्ष न हो। स्वतः-सिद्धि किसीकी नहीं होती है, परस्पर-सिद्धि होती है। इसलिए सबके सब पिता भी अध्रुव हैं और सब-के-सब पुत्र भी अध्रुव हैं। पिता भी निःस्वभाव है और पुत्र भी निःस्वभाव है। इनकी कोई भी स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

मूल तत्त्व जो है, वह शून्यरूप है और यह द्रष्टा और दृश्य दोनों उसमें कल्पित हैं। यथार्थ नहीं हैं।

बौद्ध-दर्शनके पारिभाषिक शब्दोंमें—केवल रूप-स्कन्धको छोड़कर संज्ञास्कन्ध, वेदनास्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध—ये तीनों स्कन्ध उनका मन ही है।

पूर्वमीमांसा–

इसके बाद हमारी मीमांसाका क्रम प्रारम्भ होता है। 'पूर्वमीमांसा' और 'उत्तरमीमांसा' हम आपको इन दो शास्त्रोंका संक्षेपमें परिचय दे देते हैं।

'पूर्वमीमांसा'का कहना है कि—'हमको 'जैनमत' और 'बौद्धमत'को स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं है कि एक 'अन्तःकरण' नामकी चीज होती है और उसमें कर्मके संस्कार पड़ते हैं।' परन्तु धर्माधर्मका निर्णय किसी मूल तत्त्वके आधारपर नहीं किया जा सकता।

जैसे, यदि हम कहें कि—'विष्ठा भी मिट्टी है और शिवलिंग भी मृत्तिका है, तो मृत्तिका-ज्ञानके आधारपर शिवलिंगकी पूजा और विष्ठाकी हेयता सिद्ध नहीं होती है। यह तो जो उसमें संस्कार-विशेष है, उसकी ओर देखो।'

शिवलिंग जो है वह शुद्ध मृत्तिका तत्त्व है और विष्ठा जो है, वह मलिनताके संस्कारसे युक्त है, विकारी है। शास्त्रकी दृष्टिसे कौन पूज्य है, इसका निर्णय करना होगा। मृत्तिकाकी दृष्टिसे पूजाका निर्णय नहीं होगा। माने, क्या खाना चाहिए और क्या नहीं खाना चाहिए, इसमें राष्ट्रपतिका हुकुम मत मानो, प्रधानमन्त्रीका हुकुम मत मानो। इसमें जो संविधानका हुकुम है, सो मानो। माने, इसमें किस ऋषिने क्या कहा और किस व्यक्तिने क्या कहा, और किस पंथने क्या कहा यह मान्य नहीं है।

परोक्ष स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए और धर्मके निर्णयके लिए संविधानके सिवाय, माने वेदके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। वेदसे ही धर्माधर्मका निर्णय होता है।

उन्होंने सब युक्ति और सब तर्क काट दिये, कि यदि कोई व्यक्ति चाहे कि हम स्वतन्त्र तर्क और स्वतन्त्र युक्तिसे धर्माधर्मकी सिद्धि करेंगे तो वह बिलकुल नहीं हो सकता। इतनी क्रांतिकारी दृष्टि है यह!

आप लोगोंको मालूम पड़ता है कि ये शास्त्रका नाम लेनेवाले पिछड़े हुए हैं, परन्तु नहीं! उन्होंने एक-एक तत्त्वकी परीक्षा कर ली कि गुण और दोषकी दृष्टिसे जो संखिया एक दशामें मारक है, वही संखिया दूसरी दशामें पारक भी है। जो विष्ठा एक दशामें अत्यन्त त्याज्य है, वही दूसरी दशामें अन्नके लिए खाद भी है और औषध भी है। उसके द्वारा निकली हुई चीजें औषधमें प्रयुक्त होती हैं। तो किसी भी वस्तुके त्याज्य और ग्राह्य होनेका निर्णय कोई मनुष्य अपनी युक्तिसे, तर्कसे या अनुभवसे नहीं कर सकता। वह तो शास्त्रसे ही होता है।

उत्तरमीमांसा (वेदान्त)–

इधर एक दिशा तो पकड़ी 'पूर्वमीमांसकों'ने और दूसरी दिशा पकड़ी 'वेदान्तियों'ने। उन्होंने कहा—'यह जो तुम्हारी आत्मा है, यह जगत्का उपादान है क्या? सारा जगत् तुम्हारे 'त्वं' पदार्थसे ही उत्पन्न हुआ है?' एक प्रश्न उठता है।

'एकके विज्ञानसे सर्व विज्ञान'—हम एक ऐसी चीज बताते हैं, कि जिसको जान लेनेसे सब चीज जान ली जाती है। हम एक ऐसी चीज बताते हैं, जिसके सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं। जब तक ऐसी चीज नहीं मिलेगी कि जिसके सिवाय दूसरी चीज न हो; तब तक ऐसी कोई चीज नहीं मिल सकती जिसके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाय।

उस एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान और आत्माकी अद्वितीयता—ये दो बातें वेदान्तसे ही जानी जा सकती हैं। 'आत्मा द्रष्टा है'—यह सिद्धि योगाभ्याससे हो सकती है और यह सिद्धि विवेकसे भी हो सकती है। परन्तु 'यह द्रष्टा ब्रह्म है'—(ब्रह्म है माने अद्वितीय ब्रह्म है।) इसके सिवाय जीव-ईश्वर-जगत् यह तीन तरहका बनकर बैठा हुआ है। कर्ता बनकर बैठा हुआ है शरीरमें और द्रष्टा बनकर बैठा हुआ है समाधिमें और विवेकमें। ईश्वर बना बैठा हुआ है जगत्का नियन्ता।

अर्थात् एक ईश्वररूप आत्मा समष्टिका नियन्ता और एक जीवरूप आत्मा व्यष्टिका नियन्ता। एक द्रष्टारूप आत्मा जो न समष्टिका नियमन करता है, न व्यक्तिका नियमन करता है। इस ब्रह्मकी, इस आत्माकी जो अद्वितीयता है, वह वेदान्तके द्वारा जानी जाती है।

वेदान्तियोंके मतमें यह मनीराम संसारमें अच्छा-बुरा, उचित-

अनुचित, हित-अहित, धर्म-अधर्म ये जितने भेदके संस्कार हैं, उनको धारण करके शरीरमें बैठे हुए हैं।

वैष्णवमत–

वैष्णवमतमें मन सत्य पदार्थ है। यह ईश्वरका बनाया हुआ है। यह जब शुभमें लगता है तब शुभ हो जाता है, जब अशुभमें लगता है तब अशुभ हो जाता है और जब भगवान्‌में लगता है, तब भगवदाकार हो जाता है। जैसे कोई 'विशेष्यनिघ्न' होवे!

'विशेष्यनिघ्न'—शब्दका अर्थ है, जिसका विशेष्य होवे, उसीका लिंग हो जावे। इसी प्रकार यह जो मनीराम है, वह जिसमें लगते हैं वैसे ही हो जाते हैं। वही उनका रूप हो जाता है।

वेदान्तियोंका भी यह मत है कि—

न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।
यदर्थं प्रतीभानं तन्मन इत्यभिधीयते॥

मन न कहीं बाहर है, न कहीं भीतर है। यह संसार जो भास रहा है, जैसा भास रहा है, यही मनका स्वरूप है।

सत्यकी उपलब्धिमें मनका महत्त्व–

बोले कि—'हमारा मन कैसा?' 'जैसी यह दुनिया दिख रही है।' 'यह दुनिया कैसी?' 'जैसा हमारा मन है।' वेद भगवान्‌का यह जो प्रसंग है, यह मनमें परिवर्तन करनेका प्रसंग है।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

यह जो हमारा मन है, यह 'एक-दो-तीन'—यही गिनता है। यह जो हमारा मन है, यह कानमें बैठकर शब्द सुनता है, त्वचामें बैठकर स्पर्शका अनुभव करता है। आँखमें बैठकर रूप देखता है। नाकमें बैठकर गन्ध सूँघता है, जीभमें बैठकर स्वाद लेता है, हाथमें बैठकर करता है, पाँवमें बैठकर चलता है, जीभमें बैठकर बोलता है। यह सब इन्द्रियोंमें बैठ करके जाग्रत् रहता है और, सब इन्द्रियोंमें रह करके सब इन्द्रियोंसे यह परे रहता है। यदि हमें सत्यकी दिशामें अग्रसर होना है, यदि हमें सत्यकी ओर चलना है, तो हमें इस मनपर ध्यान देना पड़ेगा।

शिवसंकल्प—व्याख्या

शिव :—तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

यह हमारा मन शिवसंकल्प हो जाय, शिवके संकल्पसे युक्त हो जाय। 'शिव' शब्दके अर्थ होते हैं तीन—एक तो *'शिवम्'* होता है। *शिवम्=भद्रं, (भावुकं, भव्यं,) कल्याणम्, शिव।* हमारा मन कल्याणमय हो जाय, माने कल्याणके विषयमें चिन्तन करे।

'शिव' शब्दका दूसरा अर्थ है धर्म। **धर्म=शिवम् यस्यास्ते।**

यह **अच्** प्रत्यय करके **'शिव'** शब्दको पुल्लिंग बना लेते हैं।

'शिव' शब्दका तीसरा अर्थ होता है—**'परमात्मा', 'ब्रह्म', 'आत्मा'।**

शिवम् चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विधेयः।

—माण्डूक्योपनिषद्

'माण्डूक्य उपनिषद्'में 'शिव' शब्दका प्रयोग आत्माके लिए, परमात्माके लिए है; शिव शब्दका अर्थ कल्याणके लिए है, 'शिव' शब्दका अर्थ ध्यानके लिए है।

संकल्प—यह हमारा मन जो है, वह क्या करे? हमारा मन शिवसंकल्प करे। संकल्पका अर्थ देखो—एक पुरुषने एक स्त्रीको देखा और एक स्त्रीने एक पुरुषको देखा। उसके मनमें संकल्प हुआ—यह संकल्प कामका बाप है।

संस्कृतभाषामें 'संकल्प' शब्दका अर्थ होता है **सं=सम्यक्** और **कल्प=कल्पना;** सम्यक्त्वकी कल्पना। 'यह चीज बहुत अच्छी है, इसमें प्रकाश है, चमक है।' इसमें तीन बातकी कल्पना है—

(१) यह वस्तु सच्ची है, नकली नहीं है।

(२) इस वस्तुमें अपनी चमक है।

(३) इस वस्तुमें सुख है।

तब चौथी कल्पना होती है—'यह वस्तु हमको मिल सकती है, हमारी हो सकती है। इसको हम आत्मसात् कर सकते हैं, माने आत्मत्वेन ग्रहण कर सकते हैं।'

मनमें ये चार बातें आती हैं। किसी भी वस्तुके बारेमें जब हम यह

कल्पना करते हैं कि 'यह झूठी नहीं है, सच्ची है और केवल हमारे मनकी कल्पनासे ही सुख नहीं देती है, यह सुखके रूपमें प्रकाशित होती है। इसमें चमक है माने स्वयं प्रकाश है।'

तीसरी बात यह कि अंगूरका स्वाद अपना है, हमारी जीभ अंगूरमें स्वाद पैदा नहीं करती, बल्कि अंगूरका स्वाद अपना है। इसी तरह-स्त्रीका स्वाद अपना है; पुरुषका स्वाद अपना है। तद् तद् विषयक जो स्वादकी कल्पना है, यह मनमें होती है।

चौथी बात मनमें आती है कि—यह चीज हमें मिल सकती है। फिर भोगके समय उसके साथ तादात्म्यापन्न हो जाते हैं, यह पाँचवीं बात है। उस विषयके साथ एक हो जाते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्वकी कल्पना माने संकल्प होने पर—

(१) वस्तुकी सत्ताका निश्चय होना,
(२) उसमें एक विशेष गुणका प्रकाश होना,
(३) उससे हमें सुखका मिलना और
(४) उसका अपना हो जाना

ये चार कल्पना जो है, वह सामने दिखनेवाली वस्तुके बारेमें आती है। तब उसको 'संकल्प' बोलते हैं। सम्यक्त्वकी कल्पना।

हमने किसी विदेशी विज्ञानका अध्ययन नहीं किया है। हम बिलकुल शास्त्रीय रीतिसे शुद्ध वेदान्तोक्त रीतिसे इसका निरूपण कर रहे हैं।

मन् कैसा हो?

सच्चिदानन्द—हमारा मन कैसा हो? **'शिवसंकल्पम् अस्तु'**। हमारी सम्यक्त्व-कल्पना शिवमें हो। माने जो धर्म है, उसीको हम सच्चा समझें और अधर्मको हम झूठा समझें, क्योंकि अधर्म चार दिनकी चमक है और धर्म स्थायीभाव है। इसके साथ चार बातें—धर्मका अपना विशेष गुण समझें कि वह हमको उन्नतिकी ओर ले जायेगा; धर्म हमको आनन्द देगा; धर्मका हम अनुष्ठान कर सकते हैं और धर्मके फलके साथ तादात्म्यापन्न हो सकते हैं। ये पाँच बातें यदि हमारे मनमें आ जायँ तो समझो कि **'शिव-संकल्पम्'** हुआ। हमारा मन कैसा हुआ? हमारा मन **'शिवसंकल्पम्'** हुआ।

अच्छा, अब ऐसे समझो—श्रवण, मनन और निदिध्यासन, जिसके द्वारा तत्त्वज्ञान होता है, उस वेदान्तका श्रवण है, मनन है, निदिध्यासन है, सो सत्य है। वह आत्मतत्त्वके आवरणको भंग करके, अविद्याको निवृत्त करके स्वरूपका—ब्रह्मका साक्षात्कार कराने-वाला है। ब्रह्मानन्द ही परमानन्द है और इसके सिवाय सृष्टिके जितने आनन्द हैं, ये तुच्छ हैं।

अद्वितीय ब्रह्म—इस ब्रह्मके साथ हम तादात्म्यापन्न हो सकते हैं, माने एकत्वबोध हमारा ब्रह्मके साथ हो सकता है। इसको बोलेंगे—

'शिवसंकल्पम् अस्तु। तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।'

मन् ऋ अवबोधने—यह जितना-जितना ज्ञान होता है, वह परमात्माके संकल्पसे होवे या धर्मके संकल्पसे होवे।

शिवसंकल्पम्—'पूर्वमीमांसा'की रीतिसे होगा कि हमारा मन धर्मके सम्बन्धसे **'शिवसंकल्पम्'** होवे, और 'उत्तरमीमांसा'की रीतिसे होगा कि हमारा मन परब्रह्म परमात्माके सम्बन्धसे **'शिवसंकल्पम्'** होवे। भक्ति शास्त्रके सम्बन्धसे इसका अर्थ होगा, हमारा मन शिवके बारेमें, परमेश्वरके बारेमें **'शिवसंकल्पम् अस्तु'**। अपने आराध्यदेवके बारेमें यह संकल्प करो।

(i) सत्ताकी प्रधानतासे धर्मका संकल्प।
(ii) चित्ताकी प्रधानतासे ईश्वरका संकल्प।
(iii) आनन्दकी प्रधानतासे प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परम-प्रेमास्पद ब्रह्मके सम्बन्धसे संकल्प।
(iv) अद्वितीयतासे अज्ञानका निवारण।

मन् कैसा है?

अब देखो, यह मन कैसा है? आओ, पहले मनको पकड़ें कि है कैसा? मनकी पहचान बताते हैं—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति तदु सुप्तस्य तथैवैति दैवम्।
दूरङ्गमम् ज्योतिषाम् ज्योतिः एकम्।

मनकी छः विशेषताएँ—छह बातें मनके बारेमें बतायी जा रही हैं। हमारे मनकी छह विशेषताएँ हैं। ये छह विशेषताएँ क्या हैं मनकी? वेदका मन्त्र है, भाई! ऋग्वेदमें भी है, यजुर्वेदमें भी है। वेदको हलका-फुलका मानकर उसकी व्याख्या नहीं करनी चाहिए। जो अवज्ञापूर्वक वेदकी व्याख्या करता है, वेद अपना अर्थ उसके सामने प्रकट नहीं करता है। आओ, पहले मनको पहचानें। मन क्या है?

यज्जाग्रतो दूरम् उदैति।

ज्यों ही हमारी नींद टूटती है और हम जागते हैं, त्यों वह हमारे सिवाय दूसरी वस्तुमें चला जाता है। लो! अब हम जागें। अरे भाई, हम किसी गाँवमें हैं? किस कमरेमें हैं? कि खाटपर हैं?

आज सबेरे हमारी नींद टूटी तो हमको ऐसा लगा कि प्रतिदिन जैसे सबेरे उठकर 'खुर्जा'में किवाड़ी खोलकर, बरामदेमें चलकर बाथरूममें जाना है। जब उठकर बैठ गये, तो देखा कि यह तो बम्बई है। यहाँ तो बरामदेमें चलनेकी जरूरत ही नहीं है। सीधी किवाड़ी खोलेंगे और बाथरूममें पहुँच जायेंगे। ऐसे तो जागते ही मन महाराज, बाथरूमको ढूढ़ने लगा! **यज्जाग्रतो दूरमुदैति**, अथवा—

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वम्। सच्चित् सुखम्।

तो जागते ही वह अपनेसे दूर हो जाता है। और,

तदु सुप्तस्य तथैवैति।

जब हम सोने लगते हैं, तो सोते समय वह दूसरेके पास नहीं रहता, अपने पास आ जाता है। अब मनको पहचानो। '**दैवम्**' शब्दका अर्थ है, विज्ञानात्मा है यह। 'दैवम्' शब्दका दोनों अर्थ है।

दुनियामें यह मैं हूँ, यह मेरा है; यह मेरा पति है, यह मेरा बेटा है, यह मेरी प्रिय वस्तु है। यह चाय है, यह काफी है—इन सबकी पहचान कौन बताता है? दुनियाकी सब चीजोंकी पहचान इस मनमें ही भरी हुई है, आत्मामें नहीं। क्योंकि सुषुप्तिके समय आत्मा तो रहता है, परन्तु मनके सो जानेपर किसीकी पहचान नहीं रहती। तो इस दुनियाको पहचाननेका काम मन करता है। भागनेका काम मन करता है। और, सोते समय लौटनेका काम मन करता है।

'**दैवम्**'का अर्थ तो हमारे वेदान्तियोंने बड़ा विलक्षण किया। उन्होंने कहा—'*देव प्रकाशकम्*'। असलमें परमात्माका ज्ञान इस मनमें ही होता है। यदि मनको शुद्ध करके श्रवण-मनन-निदिध्यासन करें, तो—

मनसैवेदमाप्तव्यम्।

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। मनसा गूढमग्रे।

यह जो मन है, इसीमें परमात्माका ज्ञान, चिन्तन और मनमें ही जो झूठ-मूठ मानी हुई अविद्या है, उसको दूर करनेका सामर्थ्य भी—

अप्रमेयं मनसैवेदमाप्तव्यम्।

मनसे यह प्राप्त करने योग्य है।

मनसैवानुद्रष्टव्यम्। एतदप्रमेयं ध्रुवम्।

यह जो अप्रमेय और निश्चल आत्मतत्त्व है, उसका मनसे ही दर्शन होता है। तो तीन बात हो गयी। अपने मनको पहचानो।

एक तो जागनेपर यह अपने आत्मासे दूर जाता है। जैसे पत्नी सोते समय अपने पतिके साथ सोती है, लेकिन उठनेके बाद वह पर्स ले करके बाजारमें जाती है। इसी प्रकार यह मनीराम सोते समय तो आत्मामें शयन करते हैं, लेकिन जागते ही महाराज, यह बेटेके पास, बेटीके पास, मकानके पास, भोजनके पास, यहाँ-से-वहाँ सौदा करनेके लिए दौड़नेको चले जाते हैं। यह सब सौदा है मनका। और, सोते समय लौट आते हैं।

ये मनीराम विषयको भी प्रकाशित करते हैं और परमात्माको भी प्रकाशित करते हैं।

ज्योतिषाम् ज्योतिः एकम्।

छह बात बतायी मनके सम्बन्धमें। यह जो हमारे पास ज्योतिष है, ज्योति है माने मशाल है, दीपक है, यह क्या है? देखो, गन्ध बताना हो तो नाक बतायेगी। आँख भी गन्ध नहीं बता सकती। जीभ गन्ध नहीं बता सकती। फूल अलग रखे हुए हों तो आँख देखेगी। इत्रको आँखसे देख लो। आँखमें रोशनी है, पर वह गन्ध दिखानेवाली रोशनी नहीं है।

गन्ध दिखानेवाली रोशनी तो नाकमें है। स्वाद दिखानेवाली रोशनी जीभमें है। स्पर्श दिखानेवाली रोशनी त्वचामें है। शब्द सुनानेवाली रोशनी कानमें है।

ये अलग-अलग जो ज्योति हैं, जैसे मशाल कई हों, तो उनमें आग एक रहती है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ अनेक हैं, परन्तु इनमें मन एक है। इनमें भी इन्द्रिय-गोलक अलग-अलग हैं, इन्द्रिय-वृत्ति अलग-अलग हैं और इन सबमें मन एक है। तो छह बात हो गयी—

(१) जागनेपर दूर जाना,

(२) विषयको प्रकाशित करना और

(३) परमात्माको प्रकाशित करना,

(४) सोते समय लौट आना,

(५) सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें रहकर काम करना और

(६) एकाग्र होने पर एकमें तन्मय होना। उदाहरण—'श्रीमद्भागवत'में एक दृष्टान्त आया है—

यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे।

—भागवत ११-९-१३

लोहार बाण बना रहा था। वह इतना तन्मय हो गया कि सामनेसे राजाकी सवारी चली गयी और उसको मालूम नहीं पड़ा। बादमें किसीने आकर उसको पूछा—इधरसे राजाकी सवारी गयी है?

उसने बताया—

अन्यमना बभुवम् नापश्यम्।

अन्यमना बभुवम् नाशृण्वम्।

हमारा मन दूसरी जगह था। आँख होनेपर भी मैंने नहीं देखा। कान होनेपर भी मैंने नहीं सुना।

क्यों नहीं सुना?

बोले—'हमारा मन दूसरी जगह था।'

जिस मनके दूसरी जगह रहनेपर खुली आँख भी नहीं देख पाती, खुला कान भी नहीं सुन पाता, खुली नाकको भी गन्धका पता नहीं चलता। मन दूसरी जगह हों और भोजन कर रहे हों तो? कभी-कभी ऐसा होता है। कोई पूछ लेता है—'क्यों भाई, नमक तो ठीक है न?'

तो कहते हैं—'ठहरो! फिर खाके बताता हूँ।' क्योंकि हमारा मन दूसरी जगह था। उसीका नाम मन है। इन छह विशेषताओंसे युक्त जो मन है, वह हमारा मन 'शिवसंकल्प' होवे, माने 'शिव'के बारे में संकल्प करे।

'शिवसंकल्प'का निश्चय-

अब इसके बारेमें आपको फिरसे दुहरा देते हैं—'शिवसंकल्पमस्तु'में 'अस्तु' क्रियाका जो प्रयोग है, उसको सबके साथ जोड़ो।

जाग्रतो दूरं शिवसंकल्पं सन् दूरं उदैतु।

जब हम जागें और हमारा मन दूसरी जगह जाय तो—

(१) परमात्माके संकल्पसे भर करके दूसरी जगह जाय।

(२) धर्मके संकल्पसे भर करके दूसरी जगह जाय।

(३) जब हमारा मन किसीको प्रकाशित करे, तो परमात्माके संकल्पसे भर करके दूसरेको प्रकाशित करे।

(४) जब हमारा मन शामको सोनेके लिए हमारे पास लौटे, तो परमात्माको अपनी गोदमें ऐसे ले करके आवे, कि हम भी आनन्दमें मग्न हो जायँ।

(५) जब हमारा मन बाहरकी इन्द्रियोंमें बैठ करके बाहरकी वस्तुओंको प्रकाशित करे, तो सब जगह परमात्माको प्रकाशित करे और

(६) जहाँ देखे वहाँ अनेकमें एक परमात्माको देखे। इसका नाम होगा—

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

ये छह बातें हमारे मनमें आ जायँ!

ॐ भद्रमपि वासय मे मनः।

मनकी पंचतन्मात्राएँ-

पृथिवीतन्मात्रा—हमारा जो मन है, उसमें एक गुण देखनेमें यह आता है कि किसी-किसीका दृढ़ होता है और किसी-किसीका डावाँडोल,

निर्बल होता है। जैसे पृथिवी जहाँ पाषाणरूप होती है, वहाँ अत्यन्त दृढ़ होती है और जहाँ कण-कण होती है, वहाँ डावाँडोल होती है। बालूके टीले कभी कहीं और कभी कहीं होते हैं और पत्थरकी चट्टान जहाँ-की-तहाँ होती है। तो पृथिवी-तन्मात्राका गुण मनमें यह है कि हमारा मन दृढ़ होवे।

यदि वह कण-कण रहेगा तो डावाँडोल रहेगा, चंचल रहेगा। 'यह भी चाहिए', 'यह भी चाहिए' 'यह भी चाहिए'। मनमें चंचलता कितनी है? कि तुम उसके द्वारा जितनी चीजें चाहते हो। मनकी गिनती कर सकते हो? कैसे गिनती करोगे? मनमें इच्छाएँ कितनी हैं? हम क्या-क्या चाहते हैं? फिर एक-एक वस्तुको चाहनेके लिए अनेक-अनेक इच्छाएँ होती हैं। तो जैसे बालूके कणोंको कोई नहीं गिन सकता, वैसे मनकी इच्छाओं और चंचलताओंको भी कोई नहीं गिन सकता।

परन्तु उसमें यदि पृथिवीका जो दृढ़तारूप गुण है, उसको प्रकट कर लिया जाय, तो मन एक स्थानपर दृढ़ होने लगता है। यह दृढ़ता और डावाँडोल स्थिति दोनों मनमें पृथिवी तन्मात्रसे आयी हुई हैं।

जिस समय आपका शरीर कठोर हो जाता है, उस समय आपका मन बिलकुल पृथिवीसे मिल जाता है। जब हम बेहोश हो जाते हैं, स्तब्ध हो जाते हैं, हाथ-पाँव हिलते नहीं हैं, तब भी पृथिवीतन्मात्रसे मन मिला हुआ होता है।

जलतन्मात्रा—इसी तरह मनमें जलका क्या गुण है? स्नेह, द्रवता, पिघल जाना। मन बह गया! यह जो अतिशय स्नेह है मनमें, यह जल तन्मात्रसे आया हुआ है।

यह स्नेह दो प्रकारका—अंतस्थमें स्नेह और बहिस्थमें स्नेह। जब यह बहिस्थमें स्नेह हो जाता है, बाहर जो चीज है, उसमें स्नेह हो जाता है, तब वह दु:खदायी हो जाता है, क्योंकि उसमें पराधीनता है। जब अंतस्थमें स्नेह होता है, तब यह दु:खदायी नहीं होता; स्वाधीनता बनी रहती है और सुख होता है।

ईश्वर अन्तस्थ है। आत्मा अन्तस्थ है। इसलिए मनके स्नेहका विषय जब भीतर बैठा हुआ ईश्वर होता है या अपना परम प्रेमास्पद आत्मा होता है, तब हमारी मनोवृत्तिकी धारा ईश्वरोन्मुख होती है या आत्मोन्मुख होती है। तब वहाँ जलतन्मात्र-अपस्तन्मात्र मनमें काम करता है।

जब आँखसे आँसू गिरने लगते हैं। पसीना होने लगता है, तब आपका मन जलसे एक हो जाता है।

तेजस् तन्मात्रा—जब क्रोधसे शरीर जलने लगता है, उस समय मन तेजसे एक हो जाता है। अग्निसे एक हो जाता है। जब मनमें रंगीनियाँ आती हैं, रंग! तब यह प्रकाश-अंशसे एक हो जाता है। प्रकाश-अंश माने यह जो तन्मात्र है, यह सत्त्वप्रधान, रज:प्रधान, तम:प्रधान, तीनों ही प्रकारके होते हैं; जब आपके मनमें तरह-तरहकी रागवृत्तियोंका उदय होने लगता है. ललित-वृत्तियोंका उदय होने लगता है, उस समय मन तेजस् तन्मात्रसे एक होता है।

तेजस् तन्मात्रसे मन स्थिर होनेपर दाहकता और प्रकाशकता व्यक्त होती है।

वायुतन्मात्रा—जिस समय मन बहुत चंचल होता है उस समय वह वायुतन्मात्रसे एक होता है। मनमें जो गति है, वह वायुतन्मात्रसे आती है। वायुमें गति है। इसलिए मनमें भी गति है।

जब कभी शरीर काँपने लगता है—प्रेममें भी शरीर काँपता है। क्रोधमे भी शरीर काँपता है और संकीर्तन करते-करते बेहोश होकर गिर पड़ते हैं, तो यह काँपने लगते हैं। तो, यह जो कंपन है और मनकी गति है—बड़ी दूरतक जाना, यह वायुतन्मात्रसे मिलती है।

आकाशतन्मात्रा—मन शोकमें शून्य हो जाता है; तमोगुणकी वृद्धि होनेपर शोकमें शून्य हो जाता है। इसलिए शोकको आकाशतन्मात्रकी वृत्ति माना जता है। वेदान्तके ग्रन्थोंमें इसका विचार है कि शोक आकाश-तन्मात्रकी वृत्ति है और वह मनमें रहती है।

इसी प्रकार मनका समाहित हो जाना भी आकाशतन्मात्रकी वृत्ति है और सम्पूर्ण विश्वको अपने मनमें धारण करना भी आकाशतन्मात्रकी वृत्ति है।

मनः आयतनम् –

पाँच-पाँचके प्रस्तारकी गणित-पद्धति—ये जो पाँच-पाँच होते हैं, इनका भी एक हिसाब होता है। आप दो चीजको आगे- पीछे रखिये तो तीन ही बनता है न? जैसे १२ (बारह) है। दो को उठाकर पहले रख दिया तो क्या हो गया? २१ (इक्कीस) हो गया। एक पहले रहा तो बारह रहा। दोनोंको अलग-अलग पढ़ा, तो एक और दो पढ़ा। दोनोंको मिला दिया तो २+१=३(तीन) हो गया। दोनोंको हटा दिया। ये पाँच अवस्था होती है।

किसी भी दो वस्तुका जब प्रस्तार किया जाता है, तब मूल गणितकी रीतिसे तीन और वेदान्तकी रीतिसे पाँच अवस्थाएँ हो जाती हैं। जैसे, द्वैत और अद्वैत—

(१) केवल अद्वैत।

(२) केवल द्वैत।

(३) द्वैत और अद्वैत दोनों बराबर।

(४) अद्वैत-विशिष्ट-द्वैत।

(५) द्वैत-विशिष्ट-अद्वैत।

ये पाँच प्रकारकी हो जाती हैं। माने, यह पाँच-पाँचकी संख्या कैसे आती है? आत्मा और मायाके मिश्रणसे आती है। आत्मा चेतन है। माया जड़ है। चेतन और जड़के मिश्रणसे देखिये—

(१) जड़ ही जड़; चेतन नहीं।

(२) चेतन ही चेतन; जड़ नहीं।

(३) जड़ और चेतन दोनों अलग-अलग।

(४) जड़-चेतन दोनों नहीं।

(५) जड़-चेतन दोनों एक-अद्वय।

यह इसके प्रस्तारकी गणित-पद्धति है। किसी चीजको कैसे फैलाना और किसी चीजको कैसे समेटना, इस पद्धतिसे बनता है।

'आयतन'की स्वरूप व्याख्या :—अच्छा, तो यह जो हमारा मन है—**मनः आयतनम्।**

'छांदोग्य उपनिषद्'में भी और 'बृहदारण्यक उपनिषद्'में भी यह वर्णन किया गया है कि—'यह हमारा मन आयतन है। आयतन है माने जैसे आकाशमें वायु चलती है, सूर्य प्रकाशित होता है, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र चमकते हैं, जैसे जल बरसता, बहता और रहता है। जैसे पृथिवी आकाशमें ही घूमती है और रहती है, इसी प्रकार—

इमे सर्वे लोकाः।

ये सबके सब जितने लोक हैं, वे मनमें ही पैदा होते हैं, मनमें ही रहते हैं और मनके अस्तसे ही अस्त हो जाते हैं।

नानात्वका दर्शन-अदर्शन—अब देखो, जिस समय आपका मन जागता है, उस समय दुनिया दिखती है और जिस समय आपका मन सोता है, उस समय दुनिया नहीं दिखती है। तो दुनियाका होना-न-होना मनके अधीन है। दुनिया होती है कि नहीं, इस बातको आप छोड़ दीजिये। परन्तु दुनियाका भासना और न भासना तो प्रत्यक्ष मनके अधीन है। आप दो हिस्सा कर दो, इसका।

हम प्राथमिक स्थितिमें यह विभाग करते हैं कि जब मन होता है, तब नानात्व भासता है। अनेकता भासती है, भेद भासता है और जब मन नहीं होता है। तब अनेकता नहीं भासती है। भेद नहीं भासता है।

इसका अर्थ है कि (भेदकी सत्ता मनके अधीन है कि नहीं, यह बात थोड़ी देरके लिए छोड़ दें, लेकिन) भेदका भासना मनके अधीन है। इसीसे योगाभ्यासके द्वारा जब मनको वशमें कर लेते हैं, तब दुनिया नहीं भासती है।

जब दुनिया नहीं भासती है, इस न भासनेको ही वे (योगदर्शनमें) परमार्थ मानते हैं कि—भाई, दुनियाका न भासना ही परमार्थ है। इसलिए मन ही समाधि है, मन ही योग है।

मनस्समाधिः। मनो वै योगः।

सारी दुनियाका मालूम पड़ना मनमें ही दफनाया जाता है। दुनियाकी कब्र, दुनियाके मालूम पड़नेकी कब्र क्या है? बोले—'मन् है।' इसी मनमें दुनिया मालूम पड़ती है। 'मालूम पड़ना'—यह ध्यान रखना, होना जो है, वह विचारकी पद्धतिसे देखो!

समाधिमें मनकी सत्ता है। जाग्रत् और स्वप्नमें मनसे भासना और प्यार है। मनसे द्वैत भासता भी है और प्यार भी होता है। परन्तु जब मन सो जाता है, तब न दुनिया भासती है और न तो दुनियाका प्यार ही रह जाता है। इसलिए दुनियामें जितने प्यार हैं, वे सब मनके खेल हैं। और, दुनियामें जितनी अलग-अलग चीजें भासती हैं, वे सब मनके खेल हैं।

पुंसो अयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः सः गुणदोषभाक्।

अयुक्तस्य पुरुषः=चंचलमन सः पुरुषः

जिस पुरुषका मन चंचल होता है, उसीको नानात्वका दर्शन होता है। जिस समय मन चंचल नहीं होता, उस समय क्या होता है?

न तत्र माता भवति, न पिता भवति, न देवा भवन्ति, न वेदा भवन्ति। न देवाः, न वेदाः।

उस समय न देवता, न वेद, न माता न पिता, न धर्म न अधर्म, न अपना न पराया। सारा सम्बन्ध मनकी जाग्रत् अवस्थामें ही भासता है। सत्तापर विचार हम बादमें करेंगे। तो ऐसा जो यह मन है—

मननात् मनः। मनो वै लोकः।

यह सारी दुनिया मन ही है।

मनो नै ब्रह्म। मनो ब्रह्म इति उपास्व।

मनो वै ब्रह्म—'बृहदारण्यक' और 'छांदोग्य' दोनों ही उपनिषदोंमें यह मनका प्रसंग आया है।

मनः आयतनम्। मनो वै लोकः।

मनो वै ब्रह्म। मनो ब्रह्म इत्युपास्व।

मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करो। अच्छा, अब मनमें ब्रह्मत्व लो। जैसे हम जिसकी उपासना करते हैं, उसमें ब्रह्मत्वका हम आरोप करते हैं। आरोपविधया ब्रह्मका ज्ञान होता है। बड़ी विलक्षण बात है।

'नाम ब्रह्म हैं'—'भगवानका नाम ब्रह्म है'—ऐसे नाममें हम ब्रह्मत्वबुद्धि करते हैं। ब्रह्म हर कालमें रहता है, इसलिए नामका उच्चारण हर कालमें किया जा सकता है। शुद्धि-अशुद्धि, पाप-पुण्य दोनोंमें ब्रह्म रहता है, इसलिए नाम पाप-पुण्य दोनोंमें रहता है। ब्रह्ममें अन्यता बाधित है, तो नाममें अन्य साधनता बाधित है। माने, जैसे ब्रह्ममें दूसरेकी सत्ता नहीं है, वैसे नामरूप साधनमें दूसरे नामरूप साधनकी सत्ता नहीं है। ब्रह्म पाप और पुण्यसे असंस्पृष्ट है, नाम भी पाप और पुण्यसे असंस्पृष्ट है। पापी और पुण्यात्मा होनेमें नाम लो सोते नाम लो, बैठते नाम लो, जागते लो, सर्व अवस्थामें लो—

शुचिर्वा ह्यशुचिर्वापि सर्वावस्थां गतोपि वा।

यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरो शुचिः॥

देखो, अब नाम ब्रह्म है। जैसे ब्रह्म सर्व देशमें, सर्वकालमें, सर्व वस्तुमें, सर्व व्यक्तिमें और सर्व भावमें अनुगत है, ऐसे नामका चिन्तन करो कि नाम भी ऐसा ही है। जब नामको ब्रह्म समझने चलेंगे तो ब्रह्मको समझ-समझकर नाममें ब्रह्मको देखेंगे। और वह नामरूप प्रतीक जो है, वह ब्रह्मज्ञानका हेतु हो जायगा। इसी प्रकार—

मनो ब्रह्म इत्युपास्व।

यह तो बड़ा भारी प्रकरण है श्रुतिका। जो लोग उपनिषद्का स्वाध्याय करते हैं, वे लोग यदि अध्यारोप-अपवादके प्रकरणको ठीक न समझते हों, तो वे उपनिषद् पढ़कर भी कुछ नहीं पढ़ेंगे। तो आओ, 'मनो ब्रह्म इत्युपास्व'। मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करो।

मनो ब्रह्म इत्युपास्व—मन सब देशमें जा सकता है। सब देशमें—पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण जो कुछ मालूम पड़ता है बाहर-भीतर, वह सब मन है।

सर्वकालमें—भूत-भविष्य-वर्तमान जो कुछ मालूम पड़ता है, मन है। जो कुछ अपना-पराया मालूम पड़ता है, शत्रु-मित्र, सो मन है। जो कुछ कमी-बेसी मालूम पड़ती है, सो सब मन है।

जितने प्रकारकी वस्तुएँ हैं, इन्द्रियाँ हैं, ज्ञान है, वह सब-के-सब—

मनःश्रोत्रं मनश्चक्षुः मनो रसनं, मनस्त्वक् मनो घ्राणम्।

मन कान है, मन आँख है, मन जीभ है, मन त्वचा है, मन नाक है। तो अब इतनी जो मनकी व्याप्ति है—

मनो वै लोकः। मनो वै ब्रह्म।

जैसे देश-काल-वस्तुमें अपरिच्छिन्न ब्रह्म सम्पूर्ण देश-काल-वस्तुमें व्यापक है, इसी प्रकार देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न मन देश-काल-

वस्तुमें सर्वत्र व्यापक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म नहीं है! इसका अर्थ यह है कि इस मनके सहारे ब्रह्मको समझो। ब्रह्मज्ञानका यही साधन है। तो यहाँ क्या-क्या बात बतायी गयी?

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

छह बात बतायी गयी है इस मन्त्रमें! यह मन कैसा है? बोले कि—जागते ही मन दूर चला जाता है।'

सुषुप्तिका विश्लेषण—आपको सभीको नींद आती है और नींदसे उठते हैं। परन्तु नींदसे उठते ही क्या बात होती है, इसपर ध्यान नहीं देते हैं। तीन अवस्थाकी ओर ध्यान दें—

तीन अवस्थाएँ—

(१) नींद टूटनेके पहले आपको कुछ भान नहीं हो रहा था। नींद टूट गयी, लेकिन 'मैं कौन हूँ?' 'कहाँ हूँ?' क्या समय है—कितना बजा है? यह मालूम नहीं पड़ता है। नींद टूट जानेपर भी देश-काल-व्यक्तिका ज्ञान नहीं होता। गाँवका ज्ञान नहीं होता, मकानका ज्ञान नहीं होता, पलंगका ज्ञान नहीं होता और नींद टूट जाती है।

एक चुटकुला सुनाता हूँ। व्रजमें 'लटका' होता है। बिना किसी विश्वासके आप जाग्रत्-अवस्थामें यह चिन्तन कीजिये कि सुषुप्ति कैसी होती है? गाढ़ निद्रामें क्या होता है? यदि आप ठीक-ठीक सुषुप्तिको अपने ध्यानमें ले सकेंगे, तो आपकी समाधि होगी।

यह देखो, मनमें यदि जाग्रत्-अवस्थामें सुषुप्त्याकार वृत्ति होवे, तो उसका नाम समाधि। इस हमारे शरीरको प्रकृति जो विश्राम देती है, उसका नाम सुषुप्ति है और हम अभ्यासजन्य जो विश्राम उत्पन्न करते हैं, उसका नाम समाधि है। पौरुषजन्य होनेसे यह पुरुषार्थ है। प्रकृतिजन्य होनेसे सुषुप्ति पुरुषार्थ नहीं है। हम यदि सुषुप्तिके लिए कोई प्रयत्न करेंगे, तो सुषुप्ति नहीं होगी। निष्प्रयत्न होनेसे सुषुप्ति होती है। परन्तु तदाकारवृत्तिकी गाढ़तासे समाधि होती है। जो पुरुषार्थ नहीं है, वह मनुष्यके किसी कामका नहीं है। प्रकृति वह स्वयं देती है।

जैसे, देखो कि स्वाभाविक जो बालमें रंग होता है न; स्वाभाविक सफेदी आती है, तो वह प्रकृतिसे आती है। वह कहती है कि—'बालको काला रखनेके लिए जो तत्त्व शरीरमें था, वह अब क्षीण हो गया है।' इतना ही है न! प्रकृतिकी सूचना है।

अब बालको काला बनाकर रखो! तो हर महीनेमें काला बनवाना पड़ेगा। तब भी वह थोड़े दिनोंमें बिगड़ जायगा।

(२) अब एक दूसरी अवस्था बताते हैं। यदि आप सुषुप्तिका चिन्तन न करके, सुषुप्ति टूट गयी और जाग्रत् अभी आयी नहीं, उस अवस्थाका मनमें चिन्तन करो, तो वह महत्तत्त्वात्मक स्थिति होगी, हिरण्यगर्भमें स्थिति होगी। उस समय आप गोलोक, वैकुण्ठलोक, साकेत लोक-सबका दर्शन कर सकते हैं।

(३) नींद टूट गयी और जाग्रत् अभी आया नहीं, उसके बाद अब तीसरी अवस्था देखो—'अहंकी अवस्था' आती है। 'मैं कौन हूँ?' ठीक उसी अवस्थामें जाकर नींद टूट गयी—सुषुप्ति टूट गयी। यह मालूम पड़ने लगा कि देश-काल-वस्तु भास रहे हैं और मैं अहंकार हूँ। यह अहं कौन है? यह—'मैं महेश्वर हूँ।' बिलकुल 'शैवागम'में, प्रत्यभिज्ञावादमें आपकी स्थिति हो जायगी।

ये जितने वैष्णव लोग, शैवलोग हैं, वे हिरण्यगर्भमें हैं। जितने माहेश्वर आदि लोग हैं, वे सब-के-सब अहंकृतिमें हैं।

नींद टूट गयी, परन्तु मैं-मेराका भान नहीं हो रहा है; और विषयका भान नहीं हो रहा है। यह महत्तत्वात्मक अथवा हिरण्यगर्भात्मक स्थिति है। तो सुषुप्ति प्रकृत्यात्मक अथवा ईश्वरात्मक है। चैतन्यकी प्रधानता-से उसको ईश्वर और हिरण्यगर्भ बोलते हैं और जड़की प्रधानतासे उसको प्रकृति अथवा हिरण्यगर्भ बोलते हैं। दोनों दो अवस्था है।

सुषुप्ति और प्रकृति एक और हिरण्यगर्भ, महत्तत्त्व, शिवलोक और विष्णुलोक एक। 'अहं महेश्वर' अथवा तन्त्रवाद है, वह अहंमूलक है। तो—

प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः।

यह स्थिति होती है। माने, हम अपने मनके द्वारा यदि चिन्तन करें तो अनुभूतिकी प्रधानतासे वहाँ पहुँचेंगे।

उपनिषद्में सुषुप्तिकी व्याख्या–

यज्जाग्रतो दूरम् उदैति।

आप जागते हैं। जगनेके पहले आप प्रकृति अथवा ईश्वरमें स्थित हैं। ये दो नाम मैं जान-बूझकर ले रहा हूँ। जड़वादी उसको प्रकृति बोलते हैं, परन्तु स्थिति कौन थी? चेतन थी। इसलिए योग और सांख्यकी रीतिसे उस समय प्रकृति निष्क्रिय थी और आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित थी।

अब उपनिषद्की दृष्टिसे वही प्रकृति नहीं है, वह तो बीजविशिष्ट चैतन्य है।

तदा सति सर्वे सम्पद्यते।
न विदुः सति सम्पद्यामहे॥

उस समय सब सन्मात्रमें अवस्थित हो जाते हैं, परन्तु जानते नहीं हैं कि—'हम सन्मात्रमें अवस्थित हैं।' इसका अर्थ क्या हुआ? अज्ञान रहता है। अज्ञानयुक्त सच्चिदानन्दसे स्थितिका नाम सुषुप्ति है और अज्ञानरहित सच्चिदानन्दमें स्थितिका नाम ब्राह्मी स्थिति है।

महत्तत्त्व = प्रीतिविशिष्ट आनन्दाभिव्यक्तियुक्त हिरण्यगर्भ अथवा महत्तत्त्वमें जो स्थिति है, वह भक्तिस्थिति है।

अहंमें 'अहं महेश्वर' आदि जो स्थिति है, वह 'स्वतन्त्रवाद'की अथवा 'कश्मीरी शैववाद'की यह 'अहं'में स्थिति है।

एतद् सर्वं मन एव–

अब देखो, मन ही जो है इसमें ज्ञानमात्र ईश्वरकी प्रधानतासे समाधि है और संकल्पयुक्त ईश्वरकी प्रधानतासे 'हिरण्यगर्भ, बैकुण्ठ आदिमें स्थिति है। अहंकी अहंग्रह-उपासना है।'

पंचतन्मात्राकी दृष्टिसे देखें तो सब मन ही है—**एतद् सर्वं मन एव।**

सत् चित् आनन्द—आनन्दप्रधान अभिव्यक्ति सुषुप्तिमें है। चैतन्यप्रधान अभिव्यक्ति महत्तत्त्वमें है। सत्प्रधान अभिव्यक्ति अहंकारमें है। यह सारा-का-सारा आत्म-देवका ही पसारा है।

सत्ताकी प्रधानतासे स्थूल पंचभूत और यह शरीर, चेतनताकी प्रधानतासे अन्तःकरण, आनन्दकी प्रधानतासे समाधि और सुषुप्ति।

हैं तीनों-में-तीनों, लेकिन मनमें सत्ता भी है, ज्ञान भी है और सुख भी है। सुषुप्तिमें सत्ता भी है, ज्ञान भी है, सुख भी है। जाग्रत्में सत्ता भी है, सुख भी है, ज्ञान भी है।

एक आपको वेदान्तशास्त्रका ही नियम सुनाता हूँ-'देखनेवाला अपनेसे भिन्न पदार्थको नहीं देखता है।' है बिलकुल उल्टा और है बिलकुल वेदान्तशास्त्रका। उल्टा माने? 'जो घड़ेको देखता है, वह घड़ेसे भिन्न होता है।' वेदान्तशास्त्रमें आपने जरूर स्वाध्याय किया होगा। परन्तु अब दूसरी ओरसे देखो—'जो घड़ेको देखता है उस देखनेवालेसे घड़ा भिन्न नहीं होता।' यह नियम आपके ध्यानमें है कि नहीं?

घड़ेसे मिट्टी न्यारी होती है, परन्तु मिट्टीसे घड़ा न्यारा नहीं होता। घड़ेको देखनेवाला घड़ेसे जुदा होता है, परन्तु देखनेवालेसे घड़ा जुदा नहीं है।

पंचतन्मात्राओंका वर्गीकरण और समन्वय—पहले आपको एक और नियम सुनाता हूँ। इस नियमको समझनेसे मनके स्वरूपको समझनेमें सुगमता होगी।

आप गन्धका ज्ञान कहाँसे प्राप्त करते हैं? नासिकाकी वृत्तिसे। नासिकाकी वृत्ति क्या है? गन्धकी सात्त्विक तन्मात्रासे घ्राण-इन्द्रिय बन गयी और गन्धकी तामस तन्मात्रासे पृथ्वी बन गयी। पृथिवी गन्धप्रधान है। तो गन्धतन्मात्रावाली नाक गन्धरूप विषयको ग्रहण करती है। माने, नासिकामें गन्धतन्मात्रा है, इसीलिए गन्धका ग्रहण होता है।

आँख है रूपतन्मात्रा, तो वह रूपको ही ग्रहण करती है। त्वचा है स्पर्शतन्मात्रा, तो वह स्पर्शको ही ग्रहण करती है। श्रोत्र है शब्दतन्मात्रा, तो वह शब्दको ही ग्रहण करता है। इसका अर्थ यह है कि विजातीय पदार्थका ग्रहण नहीं होता। यह नियम है। जितना भी ज्ञान होता है, वह सजातीय पदार्थका ही ज्ञान होता है; विजातीय पदार्थका ज्ञान नहीं होता।

जीभसे स्वाद, नाकसे गन्ध, आँखसे रूप, त्वचासे स्पर्श, और

कानसे शब्द। नियम यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने सजातीय स्थूल पदार्थको ग्रहण करती है और ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय ग्राह्य वस्तुकी सजातीय ही होती है।

इसका अर्थ है, सत्ताकी प्रधानतासे ग्राह्य और चित्‌की प्रधानतासे ग्राहक एक ही सच्चिदानन्द चित्‌की प्रधानतासे बताता है कि—यह इत्र है, यह चमेलीका इत्र है, यह गुलाबका इत्र है,यह खसका इत्र है। ज्ञान जो है, वह नासिकाप्रधान हो करके गन्धको ग्रहण कर रहा है। वही सत्ता=द्रव्यकी प्रधानतासे ग्राह्य हो रही है।

निष्कर्ष—

सत्ताकी प्रधानतासे ग्राह्यता।

चित्‌की प्रधानतासे ग्राहकता।

आनन्दकी प्रधानतासे प्रियता।

गंध प्रिय है। अर्थात् हमारे व्यवहारको देखो। सदंश ग्राह्य बन रहा है, चिदंश ग्राहक बन रहा है और आनन्दांश प्रिय बन रहा है।

द्रष्टा-दृश्यकी सजातीय एकता—अब जब इस वस्तुका आगे विचार करते हैं, तो बहुत बढ़िया इसका नतीजा निकलता है—

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं न तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥

—दृग्-दृश्यविवेक १

रूप दृश्य है, आँख द्रष्टा है। आँख दृश्य है, मन द्रष्टा है। मन दृश्य है, साक्षी द्रष्टा है। साक्षी दृश्य नहीं है, द्रष्टा ही है। इसलिए साक्षी देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे सर्वथा असंस्पृष्ट ब्रह्म है। यह बात वेदान्त बताते हैं। माने, साक्षी अद्वितीय ब्रह्म है।

अब देखो, सजातीय ग्रहणकी प्रक्रियामें एक बात और ध्यान देने योग्य है। यह विचारकी पद्धति बच्चोंका खेल नहीं है। इस पर थोड़ा गम्भीर विचार करना पड़ता है। इसमें मूल बात क्या है?

जब द्रष्टा और दृश्य सजातीय ही होते हैं। तो मूल प्रश्न यह उठता है कि—'द्रष्टा जो है, वह क्या सचमुच दृश्य बन गया है? क्या दृश्याकार परिणाम हुआ है द्रष्टाका? जब सजातीय है तो इनमें कार्य-कारणभाव है कि नहीं? यदि कार्य-कारणभाव न हो, तो अद्वितीयता नहीं होगी! इसलिए कार्य-कारण-भाव होना जरूरी है। यदि कार्य-कारणभाव है, तो द्रष्टाको परिणामी मानना पड़ेगा।'

देखो, इसको 'उभयतः पाशारज्जु' कहते हैं। दोनों ओरसे फँसरी! यदि कार्य-कारणभाव नहीं है, तो द्रष्टा अद्वितीय नहीं है। दृश्य भी सत्य है और द्रष्टा भी सत्य है। यदि कार्य-कारणभाव है, तब तो द्रष्टा परिणामको प्राप्त होकरके दृश्य बना है।

इसका निवारण वेदान्त यों कहकर करता है—'कार्य-कारणभाव दो तरहका होता है—एक परिणामी कार्य-कारणभाव होता है और एक विवर्ती कार्य-कारणभाव होता है। यह जो द्रष्टा ब्रह्म है, उसका स्वभाव है देखना और अपनी समाप्तिको, इतिको, ओर-छोरको वह देख नहीं सकता। इसीलिए अपने अनन्त स्वरूपमें ही सान्तको देख रहा है। अपने अनादि स्वरूपोंमें ही सादिको देख रहा है। अपने एक स्वरूपमें ही अनेकको देख रहा है।'

इसका अर्थ यह हुआ कि यह असलमें सच्चिदानन्दघन जो द्रष्टा आत्मा है, यह दृग्-मात्र है और दृश्य जो है, वह दृष्टिमात्र है। माने, द्रष्टा बिना किसी रूपमें परिणामको प्राप्त हुए, मात्र विवर्तित हो रहा है। यदि द्रष्टा परिणामको प्राप्त होगा, तो द्रष्टा-द्रष्टा नहीं रहेगा।

द्रष्टा विवर्तित हो रहा है, माने केवल दृश्यके रूपमें भान हो रहा है। यह दृश्य हुआ नहीं है। अब मनके स्वरूपको समझना है तो यों देखो—

ज्योतिषाम् ज्योतिः एकम् तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

मनीरामको पहचानो—

यह जो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि विषयोंको, विषयोंके आश्रयको और उनके ग्राहक करणोंको प्रकाशित करनेवाली जो ज्योति है, वह ज्योति कैसी है?

ज्योतिषाम् ज्योतिः।

वह अनेक प्रकाशकोंमें एक प्रकाशक है। यह अनेकमें एक है और प्रकाशोंमें प्रकाश है। इस अखण्ड प्रकाशमें प्रकाशकी अनेकता बाधित है।

इस एक सत्यमें प्रकाशकी अनेकता बाधित है। माने प्रतीत होते हुए भी मिथ्या है। इसलिए पहले मनको पहचाननेकी कोशिश करो। यह मनीराम कौन? जागते ही अपने आश्रयको छोड़ करके दूर चला जाता है।

जैसे, समझो कि श्रीमती रातभर अपने पतिके साथ सोयी, पर जागते ही अपने पतिके लिए चाय बनानेके लिए चली गयी। नींद टूटते ही चाय बनाने चली गयी।

यज्जाग्रतो दूरम् उदैति।

उत आ एति-जागते ही, जहाँ नींद टूटी कि यह मनरूपी सज्जन दूर जा करके चमकते हैं। वहाँसे जाकर बोले कि—'मैं उठा हुआ हूँ! और तुम पड़े हुए हो खाट पर? उठो!'

दूरम्=अन्य पदार्थमें उत आ एति। और, जो मन सोते समय लौट करके आ जाता है—

तदु (यदु) सुप्तस्य तथैव एति।

यह बात बहुत बढ़िया है। आप देखो, हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन, हमारी बुद्धि, हमारे अन्तःकरणकी वृत्ति—यह पत्नीके समान है। ये दुनिया भरका सुख इकट्ठा करते हैं—कान शब्दमें-से स्वाद ले आता है; आँख रूपमें-से स्वाद ले आती है; नाक गन्धमें-से स्वाद ले आती है; जीभ भोजनमें-से स्वाद ले आती है। परन्तु ये स्वाद अर्पित किसको करती हैं? आत्मदेवको। देखो, सुखी कौन होता है? यह पतिव्रत-धर्मका पालन करती हैं।

बाजारमें-से मिठाई बहुत बढ़िया खरीदी, चाट भी खरीदी। परन्तु पहले खुद नहीं खाया लाकर पहले उसका स्वाद जो भीतर बैठा हुआ ईश्वर है, आत्मा है, अन्तर्यामी है, उसीको दे दिया। दोनों ओर, किसीके साथ नहीं।

मनका यह नियम है कि वह अन्य पदार्थको देखे चाहे जितना, जाय चाहे अनेकके घर, देखे चाहे अनेकको, बातचीत करे अनेककी, परन्तु वह लौट करके सोयेगा कहाँ?

यथा सूत्रेण प्रबद्ध शकुनिः दिशं दिशं पतित्वात् अन्यत्र आयतनम् अलब्ध्वात् स बन्धनमेव उपाश्रयते।

जैसे, सूतसे बँधी हुई चिड़िया इधर-उधर फड़फड़ाती है, इधर जाती है, उधर जाती है। कहीं उसको जानेका रास्ता नहीं है, तो लौट करके जिस लकड़ीसे बँधी होती है, उसी लकड़ी पर आ करके पुनः बैठ जाती है। इसी प्रकार यह मन आँखोंके द्वारा बाहर जाता है, कानसे बाहर जाता है, नाकसे बाहर जाता है, जीभसे बाहर जाता है, पाँवसे बाहर जाता है। हाथसे बाहर जाता है। परन्तु **'दूरंगमम्'** होने पर भी—

सुप्तस्य तथैवैति।

जहाँ रात हुई, जहाँ सोनेका समय हुआ, वह अपने आश्रयके साथ आ करके सो जाता है।

दूरंगमम् अपि सुप्तस्य तथैवेति।

सोते समय लौट आता है। दूर-दूरकी यात्रा करता है, दूर-दूरके विषयोंको ग्रहण करता है, भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंमें जाता है, लेकिन यह मन बिलकुल एक है। और अपने आश्रयके साथ बसता है।

देखो, यह आस्तिक-वैदिक मनोविज्ञान है। वह कहता है कि यह मन जो है, वह जिसके साथ सोता है, वह मनका आश्रय है, वह मनका विवर्ती उपादान है, वह मनकी पलंग है। कौन-सी? जहाँ मन सोता है। और, वह कौन है? वह आत्मा है।

शिवसंकल्पमस्तु—यह हमारा मन जो है, दूर भले जाय, पर वहाँसे धर्मको लेकर आवे। यह मन दूर भले जाय, पर ईश्वरको लेकर आवे। यह मन दूर भले जाय, पर भलाईको ले करके लौटे। ऐसा हमारा जो मन है, वह 'शिवसंकल्पमस्तु'।

✤

मन्त्र २

येन कर्म्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ २॥

इस मन्त्रमें मनके बारेमें नव बात बतायी गयी है। पिछले मन्त्रमें छह बात थी—जाग्रत् होते ही मनका अन्य विषयमें जाना; केवल विषयोंमें जाना ही नहीं; परमात्माके प्रकाशन तककी शक्ति रखना, परमात्माका भी मानस-प्रत्यक्ष करवाना और सोते समय केवल आत्मामें ही सोना दूर-दूर तक, दूरकी वस्तु, भविष्यकी वस्तु, वर्तमानकी वस्तु, व्यवहित वस्तु जिसके हमारे बीचमें बहुत फरक है और जो बहुत सूक्ष्म वस्तु है, उसको यह मन दिखा देता है। सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें रहकर उनको प्रकाशित करता है। इन्द्रियाँ अनेक हैं, विषय अनेक हैं, परन्तु यह मन एक है।

मनकी विशेषताएँ—

अब दूसरे मन्त्रमें मनके सम्बन्धमें नव बात बतायी जाती है।

वृक्ष द्वारा यज्ञ—इस मनके द्वारा ही यज्ञमें कर्म किया जाता है। 'यज्ञ' शब्द सुनकर कई लोगोंका ख्याल होता है कि 'यज्ञ' माने दुनियाके व्यवहारसे अलग वस्तु। 'यज्ञ' शब्दका पहले आप अर्थ ध्यानमें ले आओ।

ये वृक्ष-लता यज्ञ कर रहे हैं। वे अपने फलसे, फूलसे, पत्तेसे, डालीसे, छिलकेसे, गोंदसे, जड़से, लकड़ीसे, अंकुरसे, छायासे, बीजसे, दूसरेकी भलाई कर रहे हैं। वृक्षके द्वारा स्वयं यह जो लोककल्याणका कार्य हो रहा है। यह यज्ञ है। माने वृक्ष यज्ञमें स्थित है।

विश्वविराट्के द्वारा यज्ञ—पृथिवीमें एक गेहूँ डालो, तो वह पचास गेहूँ करके लौटा दे। तो एक गेहूँका पचास करके लौटाना, यह पृथिवीका यज्ञ है। केवल गेहूँ नहीं, सृष्टिमें जितनी ओषधि-वनस्पति हैं, सबको प्राणियोंके लिए दान करना, इसका नाम यज्ञ है।

जल सबको रस देता है; यह यज्ञ है। सूर्य सबको प्रकाश देता है, यह यज्ञ है। वायु सबको श्वास देता है, यह यज्ञ है। आकाश सबको धारण करता है, यह यज्ञ है। इस प्रकार यह विश्वविराट् जो है, वह यज्ञ कर रहा है।

यज्ञका स्वरूप—दानका नाम यज्ञ है। आदानका नाम यज्ञ है, उत्सर्गका नाम यज्ञ है। कुछ दूसरोंसे लेना और कुछ दूसरोंको देना, अपने जीवनको नियमित बनाना, श्रुत्यर्थ किस प्रकार समझना चाहिए और इसकी शिक्षा देना, विश्वात्मा प्रभुको प्रसन्न करना—यह यज्ञका काम है।

हम अपने जीवनमें जो अतिशय संग्रही हो गये हैं; लेना तो आता है, परन्तु देना नहीं आता। तो, वितरणकी पद्धति सिखाना, दानकी पद्धतिको सिखाना, यह सब यज्ञका काम है। उसमें पक्षीका भी हिस्सा होता है, पशुका भी हिस्सा होता है और मनुष्यका भी हिस्सा होता है।

देखो, पृथिवीकी जो पूजा होती है, उसमें पृथिवीकी जो गंध है, और पृथिवीसे ही बना जो अक्षत है, पृथिवीसे ही बना जो फूल है, पृथिवीको ही अर्पण होता है। जल और दूधसे ही जलकी पूजा होती है। आहुति डालकर अग्निकी पूजा करते हैं। दीपकसे सूर्यकी आराधना करते हैं। माने—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

यह यज्ञ यही है कि विश्वविराट्से हम बहुत-सी वस्तुएँ अपने जीवनमें ग्रहण करते हैं। तो, जैसे ग्रहण करते हैं, वैसे ही उसको देते हैं। जिस जीवनमें यज्ञ नहीं है, वह जीवन निरर्थक है।

यज्ञका अर्थ—यज्ञका अर्थ क्या है? पृथिवी देवतासे हम अन्न और सुगन्ध प्राप्त करते हैं, तो पृथिवी देवताके प्रति आदरका भाव रखना। वरुण देवता, अग्नि देवता, सूर्य देवता, वायु देवता, चन्द्रमा देवता—इस प्रकार व्यष्टि-समष्टिमें जो विद्यमान देवता हैं, उनकी हम आराधना करते हैं, इसको बोलते हैं—'यज्ञ'।

इन्द्रियोंमें समष्टिकी आराधना हो। यदि द्रव्य हो हमारे पास, तो—

विदथेषु यज्ञेषु हविःसु सत्सु।

'विद्' धातुसे 'अर्थ' प्रत्यय उणादिमें होता है। इसका अर्थ होता है—'यज्ञ-साधनसामग्री। हमारे पास अन्न है, तो अन्नदान करो। जल है तो जलदान करो। प्रकाश है तो प्रकाशदान करो। विद्या है तो विद्यादान करो। जो है अपने पास, उसीका दान करना। यह नहीं कि जो अपने पास नहीं है, उसका दान करनेकी इच्छा करना।'

एक कविजी आये। बोले कि 'महाराज! मैं आपकी सेवा करना चाहता हूँ।'

'अच्छा! सेवा करना चाहते हो? क्या सेवा करना चाहते हो?'

'ऐसा आशीर्वाद दो कि हमें पाँच हजार रुपया मिल जाय, तो एक हजारसे आपकी सेवा करेंगे।'

मैंने कहा कि—'भलेमानुस! तू सेवा करना चाहता है, तो एक बढ़िया-सी कविता सुना दे!' क्योंकि उसके पास कविता तो है! उससे वह सेवा करे!

एक सेठ आये। बोले—'महाराज! मैं आपकी सेवा करना चाहता हूँ।'

'क्या सेवा करोगे?'

'कि मैं, आपका पाँव दबाना चाहता हूँ।'

'पाँव दबाना आपकी सेवा नहीं है।'

हविः सु सत्सु।

जैसी सामग्री ईश्वरने तुमको दी है, उसीसे सेवा करो। तुमको अन्न दिया है, तो तुम अन्नसे सेवा करो। तुमको वाणी दी है, तो तुम वाणीसे सेवा करो। जिसका शरीर मजबूत है, जिसने सीखा है कि मालिश कैसे करनी चाहिए? वह मालिशसे सेवा करे। भगवान्‌ने जिसको जो गुण दिया है, उसके द्वारा जब वह सेवा करेगा, तब यज्ञ होगा। अच्छा, तो—

वस्तुके द्वारा सेवा, कर्मके द्वारा सेवा, भावके द्वारा सेवा, बुद्धिके द्वारा सेवा, अपने अहंकारका, आग्रहका त्याग करके सेवा। यह सबसे बड़ी सेवा है; यह बलिदान है।

जहाँ हम अपने अहंकारका त्याग करके किसीकी सेवा करते हैं, वहाँ अपने भोगका त्याग करके सेवा होती है, अपने आनन्दका त्याग करके सेवा होती है और अपनी परिच्छिन्नताका त्याग करके सेवा होती है। यह सब क्या है? यह सब यज्ञ है, यज्ञ!

यज्-यज्ञ=देवपूजा, संगतिकरण, दान। इनके द्वारा—

इज्यते भगवान् अनेन इति यज्ञः।

जिसके द्वारा भगवान्‌की आराधना हो, उसका नाम 'यज्ञ'। पहले इसीको 'धर्म' बोलते थे। वह मन्त्र आपने कितनी बार सुना होगा।

यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

यज्ञके द्वारा यज्ञकी आराधना।

हम जितने भी कर्म करें, वे यज्ञमय ही हों। यहाँ तक कि हमारा मल-मूत्रोत्सर्ग भी यज्ञके लिए हों। हम पिशाब करें, शौच जायँ, हम स्नान करें, वह भी विराट्‌की आराधनाके लिए हो। दुर्गन्ध फैलानेके लिए शौच न जायँ। हम धरतीको गन्दा करनेके लिए लघुशंका न करें। हमारे लघुशंका करने पर भी, शौच जानेपर भी धरती-पानी-वायु ये सब गन्दे नहीं होने चाहिए। यज्ञार्थ जाना चाहिए। भगवद्भक्ति इसीको कहते हैं। माला फेरना भी भक्ति है, परन्तु विराट् समष्टिको दूषित करके भगवद्भक्ति नहीं हो सकती।

मनके द्वारा यज्ञ—अच्छा, तो भक्ति भी एक यज्ञ है, देवपूजा-ईश्वरपूजा है। यज्ञमें मनुष्य कर्म कम कर सकता है। बोले—'येन'=मनसे कर सकता है—**येन मनसा कर्माणि कृण्वन्ति।**

येन कर्म्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति

मनसे ही कर्म होगा। जो लोग मनको खुला छोड़ देते हैं, उनका मन इधर-उधर घूमने लगता है। मनको व्यवस्थित करके एक कर्ममें लगाना चाहिए। जिसका मन इधर-उधर घूमता है, उसके मनमें व्यवस्था नहीं होती है। अन्यथा यह मन व्यवस्थित होता है।

व्यवस्थित मनसे ही शुद्ध भोग होता है। व्यवस्थित मनसे ही शुद्ध कर्म होता है। व्यवस्थित मनसे ही शुद्ध संग्रह होता है। व्यवस्थित मनसे ही शुद्ध शान्तिका अनुभव होता है। व्यवस्थित मनसे ही आत्मस्थिति होती है और व्यवस्थित मनसे ही आत्मा-परमात्माकी एकताका बोध होता है। परमात्माके बारेमें तीन बाते हैं—

(१) मनसे परमात्माका ध्यान होना।

(२) मनकी आत्मामें स्थिति होना।

(३) आत्मा और परमात्मा दोनोंकी एकताका बोध।

यह तीसरी बात न तो भगवद्भक्ति है, न तो समाधि है। आत्मस्थिति समाधि है, यह आत्मसाक्षात्कार समाधि है। भगवद्भक्ति भगवान्‌में सायुज्य है। परन्तु भगवान् और आत्मा दोनोंमें चिन्मात्र; चिन्मात्र तत्त्व एक है। अल्पज्ञता-सर्वज्ञता, अल्पशक्तिमत्ता-सर्वशक्तिमत्ता आदि चिन्मात्र अखण्ड वस्तुमें नहीं हैं।

अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्षितम्।

युक्तिसे आत्मसाक्षात्कार हो सकता है, परन्तु सब आत्मा एक ही है और वह परमात्मासे अभिन्न है, अद्वय है, इस बातका साक्षात्कार महावाक्यसे होता है। यह शास्त्रका सिद्धान्त है।

स्वस्थ मनुष्यका लक्षण—

यज्ञमें सामग्रियोंके द्वारा कर्म करनेके लिए हमारे जीवनमें तीन बात होनी चाहिए। ये तीनों मनकी बात हैं—

अपसः मनीषिणः धीराः।

एक स्वस्थ मनुष्यका लक्षण क्या है?

(१) स्वस्थ मनुष्यका लक्षण यह है कि वह कर्मके प्रवाहमें बह न जाय।

(२) मन उसके काबूमें हो।

(३) अपने कर्त्तव्यका पालन करते समय या अपने इष्टका चिन्तन करते समय या अपनी निष्ठामें स्थित रहते समय कोई भी कष्ट आवे, तो उसको सहन करे। जिसमें द्रव्य, कर्म, भोग और संग्रह—इन चारों बातोंमें बह जानेसे अपनेको रोकनेकी ताकत नहीं है, वह मनुष्य भी नहीं है।

जो साड़ी देखी, वही हमको चाहिए। जो मिठाई बाजारमें हमको दिखी, वही चाहिए। जो चाट बाजारमें हमको दिखी, वही चाहिए और उसीके अनुसार शरीरको जाने दिया।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ गीता २.६७

आगे-आगे इन्द्रियाँ चरनेके लिए जाती हैं। समझो, कि पशु हैं। वे खेतमें अनाज चरनेके लिए दौड़ पड़ते हैं। तो चरवाहेका काम वहाँ यह होता है कि उन पशुओंको, जो बिना मर्यादाके दूसरोंके खेतमें, अपने खेतमें, जहाँ उनको नहीं जाना चाहिए, जो उनके हकका नहीं है, वहाँ जब वे दौड़ करके मुँह मारते हैं, तो उस पशुको रोकनेका सामर्थ्य उस चरवाहेमें होना चाहिए। **कर्मवन्तः।**

ऐसी कोई चीज अपने पास नहीं आनी चाहिए, जो हमारे हककी न हो। दिल्लीमें एक दिन बादशाहने आधी रातको देखा, खजानेमें रोशनी हो रही है। अबके बादशाह नहीं, यह पुराने बादशाहकी बात है। बादशाह तो अब भी होते हैं और तब भी होते थे। उसने कहा—'इस समय आधी रातको खजानेमें रोशनी क्यों हो रही है? कौन है वहाँ?'

जाकर देखा तो खजाञ्ची बैठकर हिसाब कर रहा था। 'अरे भाई! एक बजे रातको हिसाब करनेका क्या मतलब है?'

'महाराज! हिसाबमें कुछ गड़बड़ी हुई है।'

'घाटा हुआ है कि मुनाफा हुआ है?'

उसने कहा—'महाराज! घाटा हुआ होता, तो हम आधी रातको क्यों बैठते? हमारा दूसरेके पास जाता तो घाटा होता। घाटा नहीं हुआ है, फायदा हुआ है। खजानेमें हिसाबसे जितना धन चाहिए, उससे ज्यादा हुआ है। इसलिए हिसाब कर रहा हूँ।'

बोले—'आज मत करो, कल कर लेना!'

उसने कहा—'नहीं, पता नहीं किस गरीबके खून-पसीनेकी कमाई हमारे खजानेमें आकर मिल गयी है। यह रातभर अगर मिली रहेगी, तो हमारे खजानेको भी लेकर जायगी। इसलिए इसी समय इसको अलग कर देना जरूरी है। दूसरेकी वस्तु हमारी वस्तुके साथ नहीं मिलनी चाहिए, इसको अलग कर देना चाहिए!'

दूसरेके हककी चीजको हमें हमारी कहनेका कोई हक नहीं है। देखो, वस्तुके सम्बन्धमें कितनी सावधानी! कितनी सावधानी है यह!

आप लोगोंको अच्छा लगे कि न लगे, एक अपने गाँवकी बात सुनाता

हूँ—'हमारा जन्म बहुत छोटे गाँवमें हुआ है। वहाँसे स्टेशन भी दस-बारह मीलपर पहले था। अब तो बसें जाती हैं। हम लोग तो ब्राह्मण होनेके कारण यह ख्याल करते थे कि किसके घरमें खाना, किसके घरमें नहीं खाना?'

'परन्तु हमारे गाँवमें जो छोटी कहलानेवाली जातियाँ हैं, वे लोग हमारे घरमें खाते नहीं थे। हमारे घरमें बेटेका व्याह हो बेटीका ब्याह हो, 'सत्यनारायण' की कथा हो, तो वे हमारे घरमें दिनभर काम करते थे, पर खाते नहीं थे। हमने कहा कि भाई, जरा मालूम करना चाहिए, कि क्यों नहीं खाते हैं? जब दिन भर काम करते हैं? और लेते भी कुछ नहीं, पैसा भी नहीं लेते।'

'वे कहते कि—जब महाराजके घरमें काम हो, इनकी बेटीका ब्याह, इनके बेटेका ब्याह, यज्ञोपवीत, यह तो हमारे घरका काम है। इनकी सत्यनारायणकी कथा तो हमारे घरकी कथा है।'

'आखिर एक दिन मैंने पूछा'—'तुम लोग दिनभर यहाँ काम करते हो, तो यहाँ खाते क्यों नहीं हो?'

'आप क्या करेंगे जानकर?'

'नहीं, बताओ, हमें बहुत कौतूहल है।'

'उन्होंने बताया—'आप लोग तो ब्राह्मण हैं महाराज! समर्थ हैं! आपके घरमें जो आवे, आप जो खाओ, आपको पच जायगा। लेकिन हम तो छोटी जातिके लोग हैं। आपके घरमें कहाँ-कहाँसे चीजें आती हैं, दानकी वस्तु! पता नहीं, लोग मरते हुएसे छुआकर भी देते हैं!'

'जितने साधुओंके क्षेत्र चलते हैं, उसमें प्रायः मरते हुए आदमीके हाथसे पैसा छुआकर भेजते हैं। तो पता नहीं, आपके घरमें कहाँ-कहाँसे आता है। वह हम लोगोंको नहीं पचेगा। इसलिए हम लोग यहाँ खाते नहीं हैं। हमारे बाप-दादोंकी बनायी हुई मर्यादा पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे चली आयी हैं। उन्होंने कहा है कि तुम लोग ब्राह्मणके घरमें भोजन मत करना। इसलिए हम आपके घरमें भोजन नहीं करते हैं।'

आप देखो, उनके विवेकको देखोऐ वे कहते हैं कि जो वस्तु हमको न पच सके, हमारे हककी न हो, अशुद्ध हो, वह हम कैसे खायेंगे? तो देखो, भोगमें हमको कितनी सावधानी बरतनी चाहिए। यहाँ बहुत लोग ऐसे होंगे जो कहेंगे कि—'फिर हम लोग बाबाजीके यहाँ कैसे खायँ?' तो इसका समाधान भी है। बता दूँ?

'जिसके मनमें यह ख्याल हो कि यह भगवान्‌का प्रसाद है, केवल भगवत्-प्रसाद बुद्धिसे ही लिया जा सकता है। यदि अपने धर्माधर्मका विचार करके कोई दूसरेके हककी वस्तु खाना चाहे, तो उसको दूसरेके यहाँ खानेका अधिकार नहीं है।'

अब तीसरी बात आपको सुनाता हूँ—पैसा और वस्तुका संग्रह करनेमें भी कम-से-कम पचास प्रतिशत धर्माधर्मका ध्यान रखना चाहिए। आजकल तो नब्बे प्रतिशत, निन्यानबे प्रतिशत अधर्म है। उसकी बात छोड़ देते हैं।

संग्रह करनेमें, भोग करनेमें और कर्म करनेमें, बोलनेमें भी मन यदि काबूमें होगा, तो हम कायदेसे बोल सकेंगे। हमारे बोलनेका क्या अभिप्राय है? 'स्वामी करपात्रीजी'की बात तो हम छोड़ देते हैं, वे तो महात्मा पुरुष हैं!

धर्माधर्म विवेक और तत्त्वविवेक—

काशीके विद्वानोंकी बात हम करते हैं। वे कहते हैं कि—'जब पति-पत्नी, गृहस्थ आपके पास बैठे हुए हों और वे मुमुक्षु न हों, मोक्ष न चाहते हों, विवेक न चाहते हों, विवेकसे उनका प्रेम न हो, भगवद्भक्तिके लिए सब कुछ त्याग न करना चाहते हों, तो आप पुरुषको यह उपदेश करो कि एक पत्नी व्रतका धर्म ही पुरुषके लिए धर्म है। पत्नीके लिए धर्म क्या है? पातिव्रत—एक पतिका व्रत। तो इससे क्या होगा? ९९ जो स्त्री-पुरुष हैं न, उनकी ओरसे उनका मन हटेगा और एकमें लगेगा। तो यही योग हो जायगा। जब ९९में-से नहीं, यदि अरब पुरुष हों संसारमें, तो ९९, ९९, ९९, ९९९—इतने पुरुषोंकी ओर जो मन चंचल होता है, उनकी ओरसे हट करके केवल एक पुरुष या एक स्त्रीमें मन आसक्त होगा। यह आसक्ति तो योग है, माने यह एकाग्रता है कि नहीं?'

'यदि एकाग्रता है, तो यह आसक्ति तो धर्मात्मक योग है! आप क्यों प्रकृति-पुरुष विवेक बताते हैं?' यह पण्डित लोगोंका कहना है कि 'क्यों उनको आप बताते हैं कि पाँच बात नहीं हैं सृष्टिमें?'

यह हमारा कहना नहीं है, 'कपिलजीने कहा है कि—तत्त्वका विवेक करो। तुम दृश्य नहीं हो, द्रष्टा हो।'

एवम् तत्त्वविवेकात्।

'कपिलजी'ने एक श्लोकमें बताया है कि सृष्टिमें ये पाँच बातें नहीं हैं—'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।' पाँचोंका निषेध कर दिया।

(१) **नाहं**=अस्मिता नहीं है तुम्हारी।

(२+३) **न मे**=राग-द्वेष नहीं हैं तुम्हारे।

(४) **अविपर्यात्**=अभिनिवेश नहीं है तुममें।

(५) **तत्त्वविवेकात्**से अविद्या गयी।

बोले—'ठीक है, बहुत बढ़िया बात बतायी। जो ईश्वरको चाहे उसको बताओ ईश्वरभक्ति। जो विवेकको चाहे, उसको बताओ विवेक। जो एकाग्रता चाहे, उसको बताओ योग। जो जिज्ञासु हो, उसको बताओ तत्त्वज्ञान।'

परन्तु जो सामान्य स्त्री-पुरुष हैं, उनको यह बताओ कि वे खायें क्या? और वे कमायें क्या? वे करें क्या? वे बोलें क्या? ये चार बात।

हमारे काशीके पण्डितोंका यह कहना है कि—'ये बाबाजी लोग जो हैं, वे बिलकुल उन अनधिकारी स्त्री-पुरुषोंको अशास्त्रीय उपदेश करते हैं।' हमारे ऊपर भी यह लागू होता है। 'जो व्यक्तिशः जिज्ञासु हों, उनको लो! बिलकुल ब्रह्मात्मैक्यबोध करा-करके जो है सो—गोविन्दाय नमोनमः। बिलकुल प्रपंचको मिथ्या कर दें!'

कर्मवन्तः—पहली बात यह है कि तुम्हारा अपनी कर्मेन्द्रियों पर और ज्ञानेन्द्रियोंपर काबू है कि नहीं है? यह कैसे होगा? जब मन काबूमें होगा, तब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ काबूमें हो जायेंगी। दूसरी बात यह है कि मनकी प्रेरक बुद्धि हो। कर्मका प्रेरक मन है और मनकी प्रेरक बुद्धि है। अब देखो, कैसे क्रम लेते हैं?

यद् इच्छति तत् करोति।

मनमें पहले इच्छा होती है, तब मनुष्य कर्म करता है। यदि बिना इच्छाके कोई कर्म हो जाय, जैसे पहले खटमलने काटा और पटसे हाथ वहाँ पहुँच गया। तो अनजानमें जो खटमल मरा, उसमें हत्याका कर्तृत्व नहीं हुआ।

कहीं खुजली हुई और हाथ वहाँ पहुँच गया खुजलानेके लिए, तो उससे पाप अथवा पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। माने, जानबूझकर कर्म करते हैं, तब पाप-पुण्यकी उत्पत्ति होती है, बिना कर्त्तापनाके पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

यद् इच्छति तत् करोति।

जब इच्छा होती है, तब चाहते हैं, और चाहते कब हैं? जब मनमें यह संस्कार होता है कि—'इससे हमको सुख मिलेगा', तब करते हैं। जब मनमें यह संस्कार होता है कि—'इससे हमको दुःख मिलेगा,' तब नहीं करते हैं।

करना और परहेज करना, परिजिहीर्षा, परि-जिहासा। इसीको मुसलमानोंकी भाषामें 'परहेज' बोलते हैं, तो हम किससे परहेज करें और किसको अपनावें?

जिसमें प्रिय-बुद्धि होगी, उसको अपनावेंगे और जिसमें अप्रिय-बुद्धि होगी, उससे परहेज करेंगे। इसका अर्थ है कि इच्छाका नियन्ता कौन है? बुद्धि, समझ। जब अपने लिए हित समझते हैं, तब करते हैं और जब अपने लिए अहित समझते हैं, तब नहीं करते हैं। तो बुद्धि जो है, वह प्रिय-अप्रियका भेद उत्पन्न करती है। फिर प्रियमें-से इच्छाका उदय हो करके कर्म होता है। और अप्रियमें-से जिहासाका उदय होकर माने त्यागकी इच्छा बनकर, वह कर्म करनेसे रोकती है।

इस प्रकार कर्म करने—न करनेमें इच्छा हेतु है और इच्छाके होने-न होनेमें समझ हेतु है। ज्ञान और समझ! समझ उसको कहते हैं, जिसके भीतर कोई-न-कोई विषय होवे। स+मझ। मझ=मध्य—स+मध्या= जिसके भीतर कोई-न-कोई विषय होवे, उसका नाम 'समझ' है।

विचार करें कि—'यह उचित है, यह अनुचित है,' 'यह हित है, यह अहित है,' 'यह प्रिय है, यह अप्रिय है।' अच्छा, तो देखोजी, कर्मका मूल इच्छा है और इच्छाका मूल बुद्धि है। शास्त्रीय दृष्टिसे इसका बड़ा सुन्दर विज्ञान है।

यदि आप किसी आयुर्वेदके विद्वान्से प्रश्न करो, तो वह कफ-पित्त-वात त्रिधातु-विज्ञानसे आपका निदान भी करेगा और चिकित्सा भी करेगा।

आयुर्वेदका विज्ञान है—'त्रिधातु।' असलमें यह जो हमारा पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान है न, घूमफिर करके इन्हीं तीनोंके दूसरे नाम रखे हैं। वह विज्ञान भी कफ-पित्त-वातकी चिकित्सापर ही आधारित है। हमको इन दोनों विषयोंके जो बड़े-बड़े विद्वान् हैं, उन्होंने यह बात बतायी। अब आइये, सुनाते हैं, मनोविज्ञानकी बात—

मनकी गतिविधि—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः।
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः॥

—केनोपनिषद् १.१

'केनोपनिषद्'में प्रारम्भमें ही आया—'इस मनको भेजनेवाला कौन? कौन, चाहता है कि हमारा मन अमुक जगह जाय? और, यह चाहने पर हमारा मन वहाँ जाकर गिरता है।'

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः।

केन इषितं प्रेषितं मनः पतति? कौन कहता है कि—'हमारा इष्ट वह है? फिर, अपने मनको कौन भेजता है? फिर, वह मन जाकर उस विषयमें क्यों गिरता है? फिर— हमको चाहिए, यह बतानेवाला, फिर मनका भेजने-वाला, फिर मनका जाकरके विषयाकार हो जाना—ये तीनों क्रिया कैसे होती है?'

इसीको बोलते हैं—'मनीषा'। संस्कृत भाषामें इसको 'मनीषा' बोलते हैं। **मनषः ईषा मनीषा।** जैसे फलीषा लगनेसे हल चलता है। हलमें हलीषा लगता है, तब हल चलता है। इसी प्रकार मनमें जब ईषा लगती है, तब मन चलता है। वही 'ईषा' शब्द है। केनेषितंमें ईषा है, प्रेषितंमें जो प्रैषा है, वही मनमें मनीषा है।

दूसरी बात है, कर्म काबूमें कब होगा? कर्म काबूमें तब होगा, जब बुद्धि काबूमें होगी। अब विज्ञानकी बात सुनिये।

विज्ञान—

हमारा विज्ञान क्या है?

(१) पंचतन्मात्राओंका विज्ञान।

(२) पंचतन्मात्राओंके मूलमें अहंका विज्ञान।

(३) अहंके मूलमें महत्तत्त्वका विज्ञान।

(४) महत्तत्त्वके मूलमें चित्तका विज्ञान।

जब हम पाँच इन्द्रियोंसे विषयोंको ग्रहण करते हैं, तो विषयोंको ग्रहण करके समन्वित करते हैं। अर्थात् जैसे आपके मनमें एक यह इच्छा हो कि—जुहू' चलकर समुद्रके तटपर बड़ा सुन्दर दृश्य देखनेको मिलेगा-तो आँखकी तृप्तिके लिए, आँखके द्वारा मनकी तृप्तिके लिए आप 'जुहू' जाना चाहते हैं।

उसी समय जिह्वाने कहा कि—'पहले खीर खा लो, फिर चलें!' तो खीर खानेकी इच्छासे जिह्वाके द्वारा मनकी तृप्ति हुई और सुन्दर दृश्य देख करके नेत्रके द्वारा मनको तृप्त करनेकी इच्छा हुई। तो ये दोनों इच्छा एक पर ही है।

पंचतन्मात्रा विषयक इच्छाएँ तो पाँच विषयोंके भेदसे और पाँच इन्द्रियोंसे आयीं। लेकिन, 'पहले खीर खा लो, फिर सुन्दर दृश्य देखने चलो'—यह जो दोनों इच्छाओंका समन्वय हुआ, यह दोनों इच्छाओंका मालिक एक होनेसे हुआ। तो भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंसे एक मन कहता है कि—'देखो, यह बहुत बढ़िया चीज है, इसको पकड़े रहो।'

दूसरा मन कहता है, 'वह हमारा दुश्मन आ रहा है, भाग चलो!' तो पाँवसे भागें कि हाथसे पकड़ें? एक ही अहंके आश्रित ये दोनों इच्छाएँ हैं। जो भिन्न-भिन्न विषयोंकी इच्छाएँ हैं, ये पंचतन्मात्रोंके साथ, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध और उनकी मूलभूत इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध रखती हैं। परन्तु दोनों इच्छाएँ जिसमें हैं, वह 'अहं' दोनोंको समन्वित करता है।

अब दोनोंमें-से पहले क्या करना चाहिए, यह बुद्धि बताती है। औचित्य-अनौचित्यका निर्णय करती है। परन्तु इन सबके विचारका संस्कार जिसमें रहता है, उसको 'चित्त' कहते हैं।

चित्त=राशि-ढेर। बौद्ध-सिद्धान्तमें *'चियं चयने'* धातुसे 'चित्त' शब्दकी निष्पत्ति मानते हैं। हमारे वेदान्त-सिद्धान्तमें तो *'चिति संज्ञाने'* धातुसे 'चित्त' शब्दकी निष्पत्ति मानते हैं। होशोंका ढेर! जो हमको होश है न! ज्ञान है न! स्मृतियाँ हैं, कल्पनाएँ हैं!

पहली बार हमने आगमें उँगली डाली थी तो उँगली जल गयी थी। तो उसकी स्मृति भीतर चुनी हुई है, एक ढेरमें रखी हुई है। अब जब हम आग देखते हैं और उँगली डालनेका मन होता है, तो कहते हैं, 'जल जाओगे।' यह 'जल जाओगे', कौन बोलता है?

चित्तमें जो संज्ञानोंकी राशि इकट्ठी है, भिन्न-भिन्न ज्ञान जो इकट्ठे हैं—

संज्ञानं, विज्ञानं, अज्ञानं, प्रज्ञानं इति एतद् सर्वं प्रज्ञानस्यैव नामधेयानि भवन्ति।

एतद् सर्वं मन एव।

धी श्री ह्री एतद् सर्वं मन एव।

श्रद्धा-अश्रद्धा, धृति-अधृति सब मन ही मन है।

मनके चार विभाग—'अन्तःकरणचतुष्टय'—

दूसरी बात यह हुई कि हमने मनके चार विभाग किये-

(१) एक विभागमें पंचतन्मात्रा सम्बन्धी ज्ञान है। मन चूँकि उभयात्मक इन्द्रिय है, इसलिए पंचकर्म और पंचतन्मात्रा-इन दोनोंको ज्ञानमें रखता है।

(२) इन दोके सिवा भीतर भी ज्ञान प्राप्त करता है।

(३) इनको समन्वित करता है।

(४) समन्वित रीतिसे औचित्य-अनौचित्यका निर्णय करता है। और, इन सबके संस्कार एकमें रखता है।

इसमें भी मतभेद है। वैष्णवलोग तीन विभाग मानते हैं—'मन, बुद्धि और अहंकार।' सांख्यमें भी तीन ही मानते हैं। वेदान्ती लोग 'अन्तःकरण चतुष्टय'—चार मानते हैं। किसी-किसी उपनिषद्में पाँचका भी वर्णन है।

एक बात यह हुई कि निर्णयात्मक बुद्धि हो। माने मनके, हम अन्तःकरणके चार भेद करते हैं। पंचतन्मात्राके ग्रहण और अग्रहण, तद्विषयक कर्मके संस्कारोंसे संस्कृत जो मन है संकल्पात्मक, उसको 'मन' बोलते हैं। जो मनकी वृत्तियोंको अकेला रह करके धारण करता है और समन्वित करता है, उसको 'अहं' बोलते हैं। वह है 'अहमर्थ।'

निष्कर्ष यह कि—

(१) पंचतन्मात्राके स्तरपर मन है।

(२) अहंकारके स्तरपर अहंकार है।

(३) महत्तत्त्वके स्तरपर बुद्धि है। और,

(४) प्रकृतिके स्तर पर पृथक्-पृथक् चित्त है।

दार्शनिक सिद्धान्त—

द्रष्टा आत्मा इनसे अलग है, ऐसा सांख्ययोगका मत है।

'कर्ता आत्मा है,' ऐसा न्याय-वैशेषिकका मत है।

'आत्मा न तो कर्ता है और न तो परिच्छिन्न द्रष्टा है' वह अखण्ड ब्रह्म ही है—यह वेदान्तका मत है।

अतः प्रमाण-प्रधान न्याय और प्रमेय-प्रधान वैशेषिक।

साधन-प्रधान योग और साध्य-प्रधान सांख्य।

अन्तःकरण - शुद्धि - प्रधान पूर्वमीमांसा और सिद्धवस्तु - प्रधान उत्तरमीमांसा।

हमारे दर्शनशास्त्रके ये तीन युगल हैं। तीन युगल क्या हैं? 'यह रुमाल क्या है?' मुख्य रूपसे यह बताता है वैशेषिक दर्शन। आँख क्या है, त्वचा आदि क्या है? मुख्य रूपसे यह बताता है न्यायदर्शन। जीवात्मा इनके भीतर है, मुख्य रूपसे यह बताता है सांख्य और योग। द्रष्टा-मात्र आत्माका विवेक करना सांख्यदर्शन बताता है। योगदर्शन वह साधन, वह अभ्यास बताता है, जिससे द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय। इसलिए साधनप्रधान योग और साध्यप्रधान सांख्य है। पूर्व-मीमांसा अन्तःकरण-शुद्धिके लिए धर्मका उपदेश करता है और अन्तःकरण शुद्ध होनेपर जिस सिद्ध-वस्तुका साक्षात्कार होता है, वह उत्तरमीमांसा माने वेदान्तदर्शन बताता है। इस तरह छः दर्शन तीन भूमिकामें प्रतिष्ठित हैं।

धीर पुरुषका लक्षण—

परन्तु आत्मसाक्षात्कार, सिद्धवस्तुका साक्षात्कार तबतक सम्भव नहीं है, जबतक धैर्य धारण न किया जाय। कर्म करनेमें बाधा आती है, तो बाधाका मुकाबला करना पड़ेगा। बुद्धिसे निश्चय करनेपर भी जब कभी जीवनमें भय आता है, तो हम निश्चयको बदल देते हैं। इसलिए जिसके जीवनमें कष्ट सहन नहीं है, वह अपने नियमका पालन नहीं कर सकता।

शारीरिक धैर्य–

जैसे एक व्यक्तिने यह निश्चय किया कि हम अपने हाथका बनाया हुआ खायेंगे। यदि भूखे रहनेका सामर्थ्य उसके अन्दर नहीं है, तो इस नियमका पालन वह नहीं कर सकता। जिस दिन बनानेकी सुविधा उसको न मिले, उसदिन उसको भूखे रहना चाहिए। यदि वह भूख सहन नहीं कर सकता, तो इस नियमका पालन नहीं कर सकता।

मानसिक धैर्य–

मनसे उसने नियम लिया कि हम परमात्माका ध्यान करेंगे, और जिस दिन खटखट होने लगी, चारों ओर चिड़ियाँ चूँ-चूँ बोलने लगीं, कुत्ता भौंकने लगेगा, उसदिन वह उठकर डंडा मारने लगेगा, ढेला फेंकने लगेगा! है न! तो जब सहिष्णुता नहीं होगी, तो वह ध्यान कैसे करेगा?

बौद्धिक धैर्य–

वेदान्तका विचार करने लगे। उसमें जीवकी शानके खिलाफ कितनी बातें आयीं! ईश्वरकी शानके खिलाफ कितनी बातें आयीं! उपासनाकी शानके खिलाफ कितनी बातें आयीं! यदि उनको सहन करके कि—'हमको तो सत्यका ज्ञान प्राप्त करना है।' उसको सहन करके आगे नहीं बढ़ोगे, तो नहीं बढ़ सकते। इसलिए 'धीराः'। निष्कर्ष यह कि स्वस्थ पुरुष माने धीरपुरुष।

पहली बात यह है कि कष्टसहनका सामर्थ्य जीवनमें होना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि मनको दिशा-निर्देशका सामर्थ्य बुद्धिमें होना चाहिए।

तीसरी बात यह है कि अपने निश्चयके अनुसार कर्मको कार्यान्वित करनेका सामर्थ्य होना चाहिए। ये सब स्वरूप पुरुषके लक्षण हैं।

धीराः कर्मवन्तः मनीषिणः।

अब रही बात यज्ञ करनेकी। वस्तु हो, तो यज्ञ करो, वस्तु न हो, तो मत करो।

यक्षरूप विराट्–

ये यज्ञ करते हैं। तुम्हारे भीतर एक 'अपूर्व भगवान्का निवास है। तुम्हारे भीतर परमात्मा है—

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

यद् अपूर्वं यक्षम्-अपूर्वं अनपरं अनन्तरं अवाह्यं।

साक्षात् ब्रह्म है तुम्हारे हृदयमें। वह किस रूपमें है? 'यक्षम्'। जब देवताओंको अभिमान हुआ, कि हमने दैत्योंपर विजय प्राप्त किया है, तो देवताओंके सामने एक अपूर्व यक्ष प्रकट हुआ। तब अग्नि उनके पास गये।

उस अपूर्व यक्षने पूछा—'क्या वीर्य है तुममें?'

अग्नि—'मैं सम्पूर्ण लोकोंको जला सकता हूँ।'

यक्षने एक तृण सामने रखकर कहा—'इसे जलाकर दिखाओ।'

अग्निसे एक तृण नहीं जला। वायुने उस तृणको उड़ाना चाहा, किन्तु उनसे भी एक तृण नहीं उड़ा। जब इन्द्र गये, तो यक्ष लुप्त हो गया और उनकी जगहपर 'हैमवती उमा भगवती' प्रकट हो गयीं—साक्षात् ब्रह्म-विद्या प्रकट हो गयीं।

तो वह यक्ष कौन था?

बोले कि—'यही मन है। जो यक्षरूप 'विराट्' होकर, जो यक्षरूप 'हिरण्यगर्भ' होकर जो यक्षरूप 'मायाविशिष्ट चैतन्य' होकर आता है, वह यह यक्ष ही सामने आता है।

यष्टुं शक्तं यक्षम्। शन् प्रत्यय हो गया, शक्ति अर्थमें। *यज्* धातुसे *शन्* प्रत्यय हो गया।

कर्मनिष्ठ पुरुषका लक्षण–

येन कर्म्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

अप्सः कर्मवन्तः। अप् शब्दः कर्मवचनम्।

'अप्' शब्दका अर्थ है 'कर्म'। कर्म करनेसे जीवनमें रसकी उत्पत्ति होती है। यह कर्म नीरस नहीं है। जो कर्म बार-बार किया जाता है, बार-बार किया जाता है, उससे चित्तमें एकाग्रता आती है, रसका आविर्भाव होता है।

एक बार महात्मा गाँधीने 'श्रीमद्भागवत'का श्रवण 'मालवीयजी'से किया। उन्होंने लिखा है कि—'मैं 'स्वयं 'भागवत' पढ़ता था, परन्तु उसका

रस नहीं मिला था। जब 'मालवीयजी'से श्रवण किया, तो हमारे जीवनमें 'धर्मरस'की उत्पत्ति हुई।

'धर्मरस'—यह शब्द प्रयोग मैंने पहले-पहल उन्हींसे सुना था। 'धर्मरस'=धर्ममें स्वाद आना, धर्ममें मजा आना। जिस कर्ममें मनुष्यको स्वाद आता है, मजा आता है, रस आता है, उस कर्ममें उसकी प्रवृत्ति होती है।

कर्मके लिए स्वादकी भी जरूरत है। परन्तु स्वाद कैसे आयेगा? बारम्बार कर्म करनेसे। इसीलिए वेदमें 'कर्म'का एक नाम 'अप्' भी है। अप् माने जल। और, यह विचित्र है कि 'अप्' शब्द वेदमें और लोकमें सर्वत्र बहुवचनान्त है। संस्कृतभाषामें 'अप्' शब्दका एक-वचनान्त, द्विवचनान्त नहीं होता है। *आपः अपः अद्भिः अद्भ्यः अपः*...ऐसे रूप होता है। प्रथमाके एक वचनमें 'अप्'का रूप बताओ? यदि कोई विद्यार्थी बता दे, तो गलत! तो, यह बहुबचन क्यों है?

जैसे जलकी बूँदें, जलकी कणें अलग-अलग होती हैं, वैसे कर्मकी बूँदें, कर्मकी कणें भी अलग-अलग होती हैं। तो पहली बात यह है कि मनुष्य मनसे ही कर्मवान् होता है।

येन अपसः येन मनीषिणः येन धीराः सन्तः।

येन=मनसा। मन ही मनुष्यको कर्ममें लगाता है। मनमें जब कोई संकल्प होता है कि—'यह वस्तु बहुत अच्छी है, मुझे मिलनी चाहिए'—यह संकल्प हुआ।

'यह वस्तु बहुत अच्छी है, मेरे ही पास रहनी चाहिए'—यह भी संकल्प हुआ। सम्यक्त्वकी कल्पना। 'यह चीज अच्छी है, प्यारी है, स्वादु है, हितकारी है, तब यह मुझे मिलनी चाहिए, और मेरे पास रहनी चाहिए'—जब यह इच्छा होती है, तब मनुष्य कर्ममें लगता है। जो इच्छा होनेपर भी कर्म नहीं करता है, वह ढोंगी है—'**मिथ्याचारः स उच्यते।**'

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ गीता ३.६

आलसी होना तो तमोगुणी होना है। *आ+लस्= दुःखमेव प्रागेव लसति।* जिस समय आलस करके हम बैठते हैं न! *आ-आरम्भे।* आरम्भमें ही जिसमें लस् है, रस है और अन्तमें जिसमें दुःख ही दुःख है, उसको संस्कृतमें *'अलसः'* बोलते हैं! आलसीको *'आलस्य-वन्तः'* बोलनेकी जगहपर 'अलसः' बोलते हैं न! *न लसन्ति इत्यर्थः।* आलसी आदमीकी शोभा कभी नहीं होती। इसलिए उसको 'अलसः' बोलते हैं। तो, यह मन ही मनुष्यको कर्मवाला बनाता है, कर्मठ बनाता है, कर्मनिष्ठ बनाता है।

मनीषीका लक्षण—

यह मनुष्य यदि संकल्प करे, कि—'हम मनीषी हो जायँ' तो हो सकता है। कर्म करनेके लिए बुद्धिकी भी जरूरत पड़ती है। नहीं तो, ऐसी बात लोग बोल देते हैं! ऐसा कर्म कर बैठते हैं! बोलना भी सबको नहीं आता।

बोलिये तो तब जब बोलिबेकी रीति जानो।

सुन्दरदासजीने कहा—'बोलना तब, जब बोलनेकी रीति आवे। बोलनेकी रीति क्या होती है?'

सारं सुष्ठुं मितम् मधु।

सार-सार बोलो, बागाडंबर मत करो। सुष्ठु= निर्दोष बोलो। मितम्=थोड़ेमें बोलो। अर्थात् वस्तु सार-सार होवे, वाणी भी मित होवे और उसमें मधु=शहद उँडेलकर बोलो।

न्याय्यं, धर्म्यं, सकरुणं, निर्व्यलीकं, समम्, महत्। ये वाणीके गुण हैं। उसमें न्याय होना चाहिए, धर्म होना चाहिए, करुणा होनी चाहिए। वाणी निष्कपट और सबके लिए हितकारी एवम् उदार होनी चाहिए।

चलनेके लिए भी बुद्धि चाहिए। ऐसे खटाखट् खड़ाऊँ पहनकर चलते हैं कि लोगोंकी नींद टूट जाय। ऐसे तो धमाधम पाँव रखकर घरमें गये, कि छत टूट जाय। आवाज दूसरेके लिए कर्णभेदी तो नहीं होनी चाहिए न! कर्म करनेमें बड़ी बुद्धि चाहिए। मूर्ख लोग कर्म नहीं कर सकते हैं।

बोलनेमें भी मूर्ख लोग ऐसी बात कह देते हैं कि किसीके मनमें बुरा लग जाय, घृणा हो जाय, ग्लानि हो जाय, द्वेष-असूया-ईर्ष्या हो जाय! तो मनमें दुर्गुणको पैदा करना, यह तो बुद्धिमान् पुरुषका काम नहीं है।

जो काम तुम करते हो, इसका देखनेवालेपर क्या असर पड़ेगा?

जिसको मालूम पड़ेगा, उसपर क्या असर पड़ेगा? तुम्हारे जीवनपर क्या असर पड़ेगा? जो परिणाम विचार किये बिना, प्रभावका विचार किये बिना काम करता है, वह दुःखी होता है। मनीषा होनी चाहिए।

मनीषा=बुद्धि। बुद्धिर्मनीषा, धीषणा, धी, प्रज्ञा, शेमुषी मतिः।

यह बुद्धि कौन है? मनकी नियन्त्री है। मनके ही दो भाग हैं, ऐसा समझो। जैसे, आपका मन दो तरहका है—एक सैलानी और एक मुश्तकिल! माने एक घूमने-फिरनेवाला और एक, एक जगहपर रहनेवाला। देखो, हमारा एक मन तो वह है, जो तरह-तरहकी बात ढूँढ़कर ला रहा है, बोलनेके लिए और एक मन वह है, जो सब वाक्योंकी संगति लगाता हुआ आपके बीचमें बोलनेकी प्रेरणा दे रहा है।

एक मुश्तकिल है, यहाँ जो 'भारतीय विद्याभवन'- के हॉलमें बैठ करके बोल रहा है। और, एक वह है जो विचारी हुई, सोची हुई, लिखी हुई, महात्माओंसे सुनी हुई, अनुभव की हुई बातोंका जो खजाना है, उसमें-से निकाल-निकालकर ले आता है।

एक सैलानी मन चल है, एक मुश्तकिल मन अचल है—स्थिर है। यह जो मनीषा है, वह मनका वह भाग है, जो चल मनको नियन्त्रित करता है। यह है बुद्धि। माने मनसः ईषा। यह मनकी ईषा है, हलीषा है।

येन कर्माणि मनीषिणः—कर्म करनेके लिए मनीषा चाहिए। दुनियामें तीन तरहके लोग होते हैं, ऐसा भर्तृहरिने लिखा है—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः।

ये तो आलसी हैं। नीच पुरुषका स्वभाव क्या है? कि भाई, यह काम करेंगे, तो—'यह विघ्न पड़ेगा, यह पड़ेगा, यह पड़ेगा'—एक विघ्नोंका अम्बार अपने सामने खड़ा कर देता है। फिर अच्छा काम प्रारम्भ ही नहीं करता है। मध्यम कोटिके पुरुष विघ्न आनेपर छोड़ देते हैं।

बहादुर पुरुषकी आत्मनिष्ठा—

जो बहादुर होता है, *'वृहदोदरा'=बृहद् उरः यस्य,* जिसकी छाती चौड़ी होती है। बहादुर आदमी कहलाता है—'हम यों सफलता प्राप्त करेंगे! चुटकी बजावेंगे और सफलता मिलेगी'—यों सोचता है। तो जो लोग सोचते हैं कि—'हमको मदद कौन करेगा?' वे अच्छा काम करनेमें भी विलम्ब कर देते हैं।

अरे, अच्छा काम करोगे, तो हजार आदमी तुम्हारे पीछे चलेंगे। हजार आदमी तुम्हें पैसेकी मदद करेंगे। हमारे गाँवमें एक गँजेड़ी साधु आता है, तो उसके पास सौ-सौ आदमी इकट्ठे हो जाते हैं। एक गँजेड़ीके पास जब इतने आदमी इकट्ठे हो सकते हैं, तो एक ब्रह्मामृत-वर्षीके पीछे चलनेवाले क्या कम होंगे? तो यह कल्प नहीं है।

एक बार 'हरिबाबा'ने कहा कि—'आओ, एक वर्ष वृन्दावनमें रहेंगे और सारा भागवत सुनेंगे।'

मैंने कहा—'महाराज! हम दोनों जब यहाँ रहेंगे, तो बहुत लोग आ जायेंगे। सुननेवाले भी बहुत लोग इकट्ठे हो जायेंगे। तो व्यवस्था कैसे होगी?'

हरिबाबा बोले—'देखो, तुम सुनाओगे और हम सुनेंगे। भगवान्के नामका कीर्तन होगा और कथा होगी। तो क्या भगवान् हमारे खानेके लिए नहीं भेजेंगे? अपने-आप ही भगवान् व्यवस्था कर देंगे। बिलकुल मत सोचो इस बातको और बैठ जाओ, करो संकीर्तन और आज ही संकल्प करो। शुरू करो—'जन्माद्यस्य यतः।'

एक बरसतक हरिबाबाजी वृन्दावनमें रहे और एक बरस तक मैंने सारा 'श्रीमद्भागवत' सुनाया। वे सुनते रहे। कितने लोग आये और कितने लोग गये। हम पहले यह सोचते कि—'एक बरसके लिए राशन रख लो, एक बरसके लिए पैसा रख लो, लोगोंके ठहरनेकी बन्दोबस्त कर लो!'

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य तूत्तमजना न परित्यजन्ति॥ २७॥

—भर्तृहरिकृतं नीतिशतकम्

चाहे कितने भी विघ्न आवें, धैर्य रखो। असलमें अपना मददगार बनानेकी रीति यही है। आप सड़कपर चले जाओ और कोई आपको

गाली दे, अपमान करे तो आप चुप हो जाओ। आप उसका बदला मत लो। आप देखना कि सड़कपर चलनेवाले आदमी उसको पीटेंगे। आपके हजार मददगार निकल आवेंगे।

लेकिन आप स्वयं गाली देने लगोगे और मार-पीट करोगे तो लोग देख-देखकर हँसेंगे और चले जायेंगे। आपकी कोई मदद नहीं करेगा। तो मनुष्यको धीर होना चाहिए 'धीर।'

यह 'धीर' शब्द है न, 'भगवद्गीता'में इसी अर्थमें आया है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

गीता २.१४-१५

धत्ते मनांसि इति धीरः।

जो अपने मनको पकड़कर रखता है, उसका नाम धीर है। धैर्यवान् पुरुष जो है, वह धीर है। 'वेद'में भी इसी अर्थमें 'धीर' शब्दका प्रयोग आता है-

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।

—श्रुति

नानुध्यायान् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापयन् हि तत्।

बैठ जाओ मजेसे।

स्वस्थ जीवनमें यज्ञका स्वरूप-

स्वस्थ जीवनके लिए तीन बातकी आवश्यकता है—

(१) आलसी न हो, कर्मवान् हो।

(२) वासनाके प्रवाहमें बहनेवाला न हो, मनीषी हो। और,

(३) दुःख और विघ्नके सहनका सामर्थ्य हो।

जीवनमें इस प्रकार स्वस्थ रहनेवाला व्यक्ति सम्यक् रूपसे यज्ञ सम्पन्न कर सकता है। वितरण यज्ञमें विशेष महत्त्व रखता है।

वितरण—जैसे सूर्य अपनी रोशनीको बिखेरता है, जैसे चन्द्रमा अपनी चाँदनीको बरसाता है, वैसे अपने पास जो भी सामग्री हो, उसको—

योगदर्शनमें साक्षी—आप योगदर्शनके अनुसार बिलकुल ठीक हैं, यदि अपनेको साक्षीके रूपमें अनुभव करते हैं। साधनके रूपमें योग-प्रस्थान जिसको साक्षी बोलता है, वह गलत नहीं है। योगाभ्याससे समाधि लगेगी और द्रष्टाके रूपमें विवेक द्वारा अपनेको जानोगे।

सांख्यदर्शनमें द्रष्टा—सांख्यके द्वारा विवेक कर लेंगे तो अपनेको साक्षी जान करके व्यवहारमें असंग हो जायेंगे। यदि योगाभ्यास करके समाधि लगा लेंगे तो आपका द्रष्टापना बिलकुल पक्का हो जायगा। विवेकसे व्यवहारमें भी द्रष्यपना हो जाता है। योगाभ्याससे वह बिलकुल परिपुष्ट अपरोक्ष हो जाता है।

परन्तु वह द्रष्टा अद्वितीय है, वह बात द्रष्टाको भी नहीं मालूम पड़ सकती, क्योंकि द्रष्टा स्वयं 'स्व' है, वह स्वयंका विषय नहीं है। उसके लिए वेदान्तकी जरूरत पड़ती है।

वेदान्तदर्शनमें साक्षी और मन—वेदान्त-प्रस्थान कहता है—

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहतममृतेन सर्वम्।

तुम्हारे मनमें है कालचक्र। देश-काल-वस्तुका चक्कर तुम्हारे मनमे है। इसके साक्षी जो तुम हो, वह अद्वितीय ब्रह्म है।

अमृत-

परिगृहीतममृतेन सर्वम्।

पहले भी कहा—'**यज्ज्योतिरन्तरमृतम् प्रजासु**' और अब भी कहा—'**अमृतेन सर्वम्**'।

'निरुक्त'में एक वचन आता है—'अरे! वही अमृत है।' जब किसी वस्तुका अभ्यास किया जाता है, किसी चीजको दुहराया जाता है—हम लोगोंको बचपनमें ऐसा सिखाया गया है। आप लोग तो अभ्यास माने कुछ और समझते होंगे, अपने-अपने ख्यालसे। हम लोगोंको बताया गया, अभ्यास=दुहरौनी। जैसे—'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे-धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे—धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे-धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे!' इसका नाम है 'अभ्यास'। एक बातको बारबार दुहराना। संस्कृत भाषामें इसको बोलते हैं—'आम्रेडितम्'। '*कानाम्रेडिते-कानाम्रेडिते*'—ऐसे गुरुजी बताते थे। मैं तो सूत्र भूल गया।

उसका अर्थ 'कान' नहीं है। वह तो *'कास्कान्'* बोलते हैं। कान्-कान्=किसको किसको? यह अभ्यास हो गया। इसको बोलना चाहिए 'कानाभ्रेडितम्'। आभ्रेडितम्=अभ्यास।

अभ्यासेन भूयांसम् अर्थम् मन्यन्ते अर्थरसिकाः।

यह 'निरुक्त'का वचन है। माने यदि कोई बात दुहरा करके कही जाय, दो बार बोली जाय, तो समझना कि इसका अभिप्राय बड़ा गम्भीर है। यह बड़ी प्रयोजनीय वस्तु है, तब दुहरा करके कही गयी है।

यज्ज्योतिरन्तरमृतम् प्रजासु।

पहले मन्त्रमें भी मनको 'अमृत' कहा गया और दूसरे मन्त्रमें भी मनको 'अमृत' कहा गया—

परिगृहीतम् अमृतेन सर्वम्।

येन=अमृतेन। मन अमृत है। मनको अमृत कहा गया। विष इसमें घोला जाता है, इसमें विष रहता नहीं है।

ईश्वर—

दृश्यका नियन्ता—जितना दुःख है, शोक है, भय है, वह द्रष्टामें नहीं है। आप भले द्रष्टा बनकर बैठो। लेकिन आपके दृश्यका नियन्ता ईश्वर रहेगा। जब आपके दृश्यका नियन्ता ईश्वर रहेगा, तो कभी आँख ही ऐंठ देगा, एक आँख निकाल लेगा और एक आँख रहने देगा। कभी एक हाथ ऐंठ देगा। लकवा लग जायगा, एक हाथमें पक्षाघात हो जायगा। कभी एक पाँवमें पक्षाघात हो जायगा। कभी पाँवमें साइटिका हो जायगा।

दृश्यके नियमन द्वारा ईश्वर आपका नियन्त्रण करेगा, क्योंकि आप द्रष्टा रहने पर भी चाहेंगे कि हमारा हाथ ठीक रहे, पाँव ठीक रहे। हे ईश्वर! स्वस्थ रखना। द्रष्टा होने पर भी। क्योंकि यही चाहते हैं।

द्रष्टा-दृश्य सम्बन्ध—एक भगत हमारे पास आता है। वह कहता है—'मरनेके समय महाराज! कोई दुःख न हो, यह कृपा करना।'

'अरे तू तो द्रष्टा है। मरनेका द्रष्टा है।'

यज्ञके ग्रन्थोंमें यह वर्णन आता है कि ईश्वरके अंगसे ही ईश्वरकी आराधना होती है। माने, ईश्वरसे ही ईश्वरकी आराधना होती है।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।

जहाँ भागवतमें विराट्-पुरुषका वर्णन है, वहाँ विराट्-पुरुषके अवयवमें ही साधनता और साध्यता दोनोंकी कल्पना करके यज्ञकी सृष्टि की गयी है।

जिस सरका है यह बाल, उसी सरमें जोड़ दे।

जिसके तुम अंश हो, उसकी सेवामें लग जाओ। तुम समष्टिके, विराट्के, हिरण्यगर्भके, ईश्वरके अंश हो। उसकी सेवामें लग जाओ। अपनी सारी शक्ति, सारी बुद्धि, सारी इन्द्रियाँ ईश्वरकी सेवामें लगा दो।

प्रजाकी सेवा—

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्।

प्रजा—*प्रजायन्ते इति प्रजा।* यह हमारा 'प्रजा' शब्द जो है, बड़ा व्यापक है। 'प्रजा' शब्दका अर्थ हिन्दुस्तानी प्रजा नहीं है। एक सज्जनने हमसे कहा—

हमारी पार्टी जीत गयी।

मैंने कहा—'पार्टी तो जीत गयी, लेकिन जनता हार गयी, गुरु!'

एक ने कहा—'हमारी भाषा राजभाषा हो गयी, दूसरी भाषा निकृष्ट हो गयी।'

तुमको मालूम नहीं है, ज्ञान रो रहा है? भाषाके लिए लड़कर तुमने ज्ञानको रुला दिया। मजहबके लिए लड़कर धर्मका सत्यानाश कर दिया। मजहब लड़ रहे हैं, धर्मका नाश हो रहा है। पार्टी जीत रही है, जनता हार रही है। प्रान्त लड़ रहे हैं, राष्ट्रका सत्यानाश हो रहा है। भाषा लड़ रही है, ज्ञानका अनादर हो रहा है। यज्ञ क्या है?

'प्रजा' शब्द हमारा कितना व्यापक है, इसपर ध्यान दो। *प्रजायन्ते इति प्रजा*-जिसका जन्म हो, उसका नाम प्रजा। इसमें हिन्दू-मुस्लिम नहीं है। आप निश्चित रूपसे समझो, प्रजामें ब्राह्मण-चाण्डाल नहीं है। प्रजामें भारतीय-अभारतीय नहीं है। इसमें योरोपीय-एशियाई-अमेरिकनका भेद नहीं होता है।

इसमें पशु-पक्षी-मनुष्यका भी भेद नहीं होता है। हमारा 'प्रजा' शब्द जन्तुसे लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त जिसकी उत्पत्ति होती है, सबका वाचक है।

प्रथम प्रजा हिरण्यगर्भ है, इसलिए उसको प्रजापति बोलते हैं—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।

ईश्वरकी प्रथम प्रजा हिरण्यगर्भ है और प्रथम कृति प्रकृति है। *प्रकृति=प्रथमा कृति, प्रकृष्ट कृति, प्रकृष्टा कृति। प्रकर्षेण जायन्ते इति प्रजा।*

मनस्तत्त्व—

सर्वव्यापक मनो-धातु है एक कीड़ेसे लेकर ब्रह्मा तक, हिरण्यगर्भतक और एक तृणसे लेकर प्रकृति पर्यन्त, जड़-चेतन समग्र सृष्टि—इनके भीतर एक मन भरा हुआ है। कहीं अचेतन मन होता है, कहीं अवचेतन मन होता है और कहीं चेतन मन होता है। अचेतन मन कैसा? अभी जगा नहीं है। आगे जग जायगा। देखो, एक गेहूँ है। गेहूँमें जो मन है, वह अचेतन मन है। वह अभी जगा नहीं है। जब गेहूँको सड़ावेंगे और उसमें कीड़े पड़ जायेंगे न, माने कीड़े पैदा हो जायेंगे, तो गेहूँकी जो कणे हैं, वह अचेतन मनसे अवचेतन-मनात्मक हो जायगी। जब गेहूँ मनुष्यके साथ तादात्म्यापन्न होगा, तो उसका मन चेतन हो जायगा। इसलिए 'प्रजा' नामका अर्थ है, जो भी पैदा हुए हैं, सबके अन्तर, सबके भीतर कौन हैं? मनीराम हैं। *मनसैवेदमसृजत। मनसा प्रजा असृजत काश्यपः। प्रजाः। मनसैव इदमसृजत।*

हिरण्यगर्भ मनात्मक है। मनसे ही सारी सृष्टि हुई है। जैसे घड़ेमें मिट्टी है। वैसे ही सृष्टिमें मन है। एक मनस् तत्त्व है, एक मनो धातु है।

व्यष्टि-मन—नैयायिक और वैशेषिक मनको द्रव्य मानते हैं। पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा? और मन *दिगात्मम् मनांसि।* मन द्रव्य है, द्रव्य धातु है।

मनको कोई अणु-परिमाण मानते हैं। रामानुजी, माध्व, निम्बार्की आदि जो वैष्णव लोग हैं, वे मनको अणु-परिमाण मानते हैं।

'मीमांसकोंमें कुमारिल भट्टके अनुयायी और प्रभाकरके अनुयायी—एक पक्षमें मन अणु है और एक पक्षमें मन विभु है, ऐसा मानते हैं।

सांख्य-योगके मतमें मन 'विभु' पदार्थ है। इसीलिए जब मन शुद्ध होता है, तो हम 'दूर देशमें स्थित व्यक्ति क्या सोच रहा है,' इसको जान सकते हैं। दूसरेके मनको जाननेकी विद्या है। योगाभ्यासके द्वारा सूक्ष्म किया हुआ मन जगत्के किसी भी पदार्थसे तादात्म्यापन्न हो जाता है। सबके भीतर एक मन है।

कुछ लोग मनको मध्यम-परिमाण मानते हैं। जैसे हृदय है, जैसे सिर है, ऐसे ही यदि एक गोलक हाथमें बना दिया जाय तो? हमारे सांख्य और योगके मनमें इन्द्रियाँ भी मध्यम-परिमाण हैं। वे सारे शरीरमें व्यापक हैं।

आँखसे हम यहाँ देखते हैं! देखनेवाली जो वृत्ति है, 'चक्षुर्वृत्ति', यह नहीं है; इस पुतलीका नाम 'चक्षुर्वृत्ति' नहीं है। शरीरमें एक 'चक्षुर्वृत्ति', नामकी वृत्ति दौड़ती रहती है और वह इस नेत्रगोलकमें प्रकट होती है।

यदि एक आँख बना दी जाय! आगे जब विज्ञान उन्नति करेगा, पीठ पर एक आँख बना देगा! यह शक्य है, क्योंकि सारे शरीरमें जब चक्षुर्वृत्ति धावन करती है, तो जैसे इस केन्द्रमें प्रकट होके देखती है, वैसे उस केन्द्रमें भी प्रकट होकर देख सकती है। यह मनीराम कण-कणमें व्याप्त हैं। जन-जनमें नहीं, कण-कणमें व्याप्त हैं। जो आज जड़ पदार्थ कहे जाते हैं, उसमें भी मनकी स्थिति है।

मनकी शक्ति—

'अन्तः प्रजानाम्' =स्थावर जंगमात्मक सारी प्रजाके भीतर यह मनस् तत्त्व, यह मननात्मक धातु, यह द्रव्य है। और यह सावयव द्रव्य है। इसका प्रक्षेपण होता है। जब हम आपकी ओर देखते हैं, तो मालूम पड़ता है कि हमारी ओर देख रहे हैं? जैसे हम नेत्रसे रश्मियोंका विकिरण करते हैं? किरणों को बिखेरते हैं। वैसे अपने हृदयमें-से मनको विकिरण करते हैं। इसीसे शक्तिपात होता है।

शक्तिपात जो होता है, ये महात्मालोग जो दूसरेमें करते हैं। माने हिप्नोटाइज होता है, मेस्मराइज होता है। अपने मनसे दूसरेके मनको प्रभावित करते हैं, राशि-राशि मनको विकीर्ण करते हैं, फेंकते हैं। अनुग्रह भाजनपर जब डालते हैं, तब शक्तिपात हो जाता है।

यह मनकी शक्ति किसीकी स्वभावसे जाग्रत् होती है, किसीकी धर्माचरणसे जाग्रत् होती है, किसीकी योगाभ्याससे जाग्रत् होती है, किसीकी एकाग्रतासे जाग्रत् होती है और किसीकी अदृष्ट निमित्तसे जाग्रत् होती है, अदृष्ट ही जाग्रत् हो जाता है।

'रत्नावली'ने 'तुलसीदास'को एक बात कही 'हमारे पीछे रातको नदी पार करके साँपपर चढ़कर हमारे पास आये हो? यदि इतना प्रेम तुम्हारा भगवान्‌से होता तो? बेड़ा पार हो जाता।'

रत्नावलीके एक वचनने तुलसीदासजीकी प्रतिभाको प्रकट कर दिया। उनकी बुद्धि प्रकट हो गयी।

अदृष्टतोऽनन्य निमित्तमस्ति।

कब कहीं आग लग जाय! जंगलमें लगती है न, तो 'भागवत'में ऐसे लिखा है—'कौन पेड़ जलेगा और कौन पेड़ बचेगा, यह कह नहीं सकते। वृन्दावनमें एक 'लालाबाबू'का मन्दिर है। 'लालाबाबू' बड़े भारी जमींदार थे। लाखों रुपयेकी आमदनी थी उनकी जमींदारीकी।

एक दिन सायंकाल जब अपने ऑफिसमें बैठकर मजदूरोंको तनख्वाह दे रहे थे, एक बेचारा बहुत गरीब-बहुत देरसे बैठा था। उसको तनख्वाह नहीं मिली। नहीं मिली, तो उसने कहा—'बाबू बेला हो गयी!'

'बेला हो गयी,' माने 'हमको यहाँसे आठ-दस मील दूर जाना है। घरमें जायेंगे तब आटा खरीदकर आयेगा। तब रोटी बनेगी, खायेंगे। अब हमरी बेला हो गयी, जल्दी दे दो!'

उन्होंने कहा—'बेला हो गयी? बेला हो गयी?' बस!! बेला हो गयी माने बंगलामें 'बेला' समयके अर्थमें बोलते हैं। वे सोच रहे थे—'वह समय कब आयेगा, जब हम वृन्दावनमें होंगे? भगवान्‌का भजन करेंगे, आँखमें आँसू आयेंगे, शरीरमें रोमाञ्च होगा, 'कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण'के कीर्तनमें हम मग्न होंगे! वह बेला हमारे जीवनमें कब आयेगी?'

यह तो वे सोच रहे थे भीतर और बाहरसे उसने कहा—'बेला हो गयी!'

'हाँ, बेला हो गयी! अपना कोट उतारकर दे दिया कि—बाबा, इसमें जो है, वह गिन लेना। तेरी मजदूरी पूरी होती है कि नहीं?' कोट उतारकर दिया और पैदल वहाँसे चलकर निकल पड़े और वृन्दावन आ गये। ऐसे हैं मनीराम। शक्तिका जागरण!!

देहाभिमानका मिथ्यात्व—हम लोगोंका जो अभि-मान है, यह झूठा है। 'यह देह मैं'—यह तो किसी दृष्टिसे नहीं है। 'न्याय-वैशेषिक'की दृष्टिसे भी नहीं है देह अपना आत्मा! 'सांख्य'—'योग'की दृष्टिसे भी नहीं है, 'मीमांसा'और 'वेदान्त'की दृष्टिसे भी नहीं है। बौद्धकी दृष्टिसे भी इस देहका नाम—इस 'रूपस्कन्ध'का नाम आत्मा नहीं है। जैनकी दृष्टिसे भी इस शरीरका नाम आत्मा नहीं है? झूठे ही 'मैं-मैं-मैं' करके बैठे हुए हैं। सबके भीतर एक मनस् अनुप्राणित है, व्याप्त है, संतत है।

एक दिन घटाकाशने महाकाशको ललकारा 'मैं भी कुछ हूँ—मैं भी कुछ हूँ-मै भी कुछ हूँ!' *अहम्-अहम्-अहम्! सोऽहम्!* ललकारा—*'अहं कर्ता, अहं भोक्ता।'*

महाकाशने कहा—'बेवकूफ! जरा-सी मिट्टीकी तो दीवार है और इसपर इतना अभिमान? मिट्टीकी दीवार कहीं हमको तुमको अलग करती है? मिट्टीकी दीवारसे कहीं आकाशमें अलगाव आता है?'

एक दिन कणने कहा कि—'मैं भी कुछ हूँ।'

क्षणने कहा—'मेरे साथ मिट रहे हो। यही न तुम्हारा जीवन है?'

मनकी अपूर्वता—**'अपूर्वं यक्षम्'**—एक अपूर्व यक्ष तुम्हारे भीतर बैठा हुआ है। यक्ष ही है।

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्।

'अपूर्व'का अर्थ है, इसके पहले कोई इन्द्रिय नहीं हुई। जितनी इन्द्रियाँ हैं, आँख-कान-नाक आदि, इन सबसे पहले यह है।

यतः पूर्वं किंचित् न भवति तद् अपूर्वम्।

जिससे पहले कोई इन्द्रिय नहीं है। मन ही इन्द्रिय बनाता है, मन ही देह बनाता है और मन ही विषय बनाता है। अपूर्व है!

अपूर्वं=यत् कस्यचित् न भवति।

देखो, अर्थ बदल गया।

यस्मात् पूर्वं किञ्चित् न भवति।

और,

यः कस्यचित् पूर्वं न भवति।

यः कस्मात् चित् पूर्वं न भवति।

जिससे पहले कुछ नहीं है, और जो किसीके पूर्व नहीं है। 'अपूर्व' शब्दका दोनों अर्थ है। उसके पूर्व कुछ नहीं है और वह किसीके पूर्व नहीं है।

यस्मिन् पूर्वं शब्दप्रवृत्तिर्न भवति।

पुरा वाति, पुरो वहति।

जो इस शरीरका निर्वाह करता है, जो इस शरीरमें दौड़ता है, जो इस शरीरमें रहता है, वह पूर्व है। यह शरीरके मरनेसे-जीनेसे सबसे पूर्व है। 'माण्डूक्य उपनिषद्'में ब्रह्मके लिए 'अपूर्व' शब्दका प्रयोग हुआ है—

अपूर्वं अनपरं अनन्तरं अबाह्यं।

'बृहदारण्यक उपनिषद्'में ब्रह्मके लिए इन शब्दोंका प्रयोग हुआ है। वह जरा दूसरे ढंगका है—

अलक्षणम् अचिन्त्यम् अव्यपदेश्यम् एकात्मप्रत्ययसारम्।

यह दूसरा है—अपूर्वम्।

मनका निर्विषय स्वरूप—

अरे, इस मनको जरा विषयसे खाली करके देखो! असलमें इसकी विषयाकारता ही भासती है। इसका जो निर्विषय स्वरूप है, वह नहीं भासता है।

वेदान्ती साधक नहीं है। वेदान्त कोई साधना नहीं है, क्योंकि साधनामें साधन और साध्यका भेद है। एक साधन करनेसे गणितकी रीतिसे साध्याकार वृत्ति होती है। साध्याकार अन्तःकरणका परिणाम होता है।

साधनके द्वारा जो साध्याकार वृत्तिका परिणाम होता है, वह जन्य होनेसे अनित्य होता है और अधिष्ठान-ज्ञानसे मिथ्या हो जाता है। कोई भी परिणाम जो हम साधनके द्वारा उत्पन्न करेंगे, कोई भी फल होगा, वह उत्पाद्य होनेसे आप्य-संस्कार्य-विकार्य होनेसे विनाश्य होगा, विनाश्य।

यह वेदान्त-ज्ञान जो है, यह साधना नहीं है, यह साध्य नहीं है। यह तो सिद्ध है। इसीलिए प्रमाण-प्रमेय विभाग न्यायदर्शन-वैशेषिकदर्शनमें है। साध्य-साधन विभाग सांख्य-योगमें है। पूर्वमीमांसा शुद्धि-प्रधान है। वेदान्त शुद्धवस्तु-निरूपण-प्रधान है।

यह जो 'अपूर्व' है, बड़ा विलक्षण है। वह साधना नहीं है, साधनजन्य अनुभूति नहीं है, साधनका परिणाम नहीं है, यह साध्य नहीं है। यह एक ऐसी चीज है, जो तुम टट्टी जाओ तब भी तुम्हारा पीछा न छोड़े और युद्धमें बन्दूक चलाओ, तब भी तुम्हारा पीछा न छोड़े।

यह एक वस्तुतत्त्वका, यथार्थताका ज्ञान है, ज्ञान! ज्ञान भी उत्पाद्य नहीं, स्वतः सिद्ध। इसमें बड़ी विलक्षणता यह है कि मनको निर्विषय कर देना साधन-साध्य है। परन्तु निर्विषयता जो है उसको कहेंगे कि—'अनुभवरूप' है, 'अपरोक्षरूप' है फलाना है, ढिकाना है—ऐसा कुछ उसको बोलते हैं।

परन्तु वास्तवमें निर्विषयताका अपरोक्ष नहीं होता। इस सम्बन्धमें अद्वैतवेदान्तियोंका बड़ा विलक्षण सिद्धान्त है। वे निर्विषयताको भी अपरोक्ष मानते हैं। ज्ञानको निर्विशेष मानकर अपरोक्ष मानना और ज्ञानको सविशेष मान-कर ही अपरोक्ष मानना—यही सगुण-सिद्धान्तमें भेद होता है।

मनरूप यक्षका सदुपयोग—

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

ये कहते हैं कि सबके भीतर-कीड़ेसे लेकर ब्रह्मातक और तृणसे लेकर प्रकृतितक—'**प्रजानाम् अन्तः**' माने सबके भीतर, अपने-अपने भीतर एक यक्ष रहता ह। जैसे पीपलके पेड़पर भूत रहता है, ऐसे यक्ष रहता है।

उसको समझदारीसे चलाओगे, तो वह तुम्हारे लिए देवता है और नासमझीसे उसको चलाओगे, तो वह तुम्हारे लिए राक्षस है।

'यक्ष' कहनेका अभिप्राय क्या? किसी-किसीको यक्ष-भूत-प्रेत लग जाता है, तो सत्यानाश कर देता है और किसी-किसीको यह सिद्ध हो जाता है, तो वे जो चाहें सो ला-लाकर उसको देता है। हमको कई बड़े-बड़े सेठोंने बताया। सेठका नाम इसलिए लिया कि कोई मामूली आदमी बतावे,

तो उसका कोई स्वार्थ भी हो सकता है। परन्तु जिसके पास धनसम्पत्ति-पुत्र-मिल-कल कारखाना है, वे ऐसी बातोंमें काहेको झूठ बोलेंगे? हम नाम तो नहीं लेना चाहते हैं, लेकिन देशके जो बड़े-बड़े उद्योगपति हैं, उन्होंने बताया कि—'हमको एक यक्षसे यह चीज मिल गयी।'

मन ही यक्ष है। उसमें जो शक्ति है, जो सामर्थ्य है, उसका ठीक-ठीक सदुपयोग होना चाहिए।

मनका केन्द्र–

जैन लोग मानते हैं, मन दो प्रकारका होता है—एक पौद्गलिक=शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाला, जड़तासे सम्बन्ध रखनेवाला और एक होता है आत्मिक= जीवसे, आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला।

जैन लोग आत्मवादी हैं, जीववादी हैं। वेदशास्त्रको न माननेपर भी आत्माका अस्तित्व मानते हैं। वे पुनर्जन्म भी मानते हैं और परलोक भी मानते हैं। शुद्ध-निर्मल हो जानेपर उज्ज्वल तीर्थंकरके रूपमें भी आत्माका अस्तित्व मानते हैं।

बौद्ध लोग निर्वाणकी प्राप्ति होने पर आत्माका उच्छेद मानते हैं। जैन लोग आत्माका उच्छेद नहीं मानते हैं, आत्माका अस्तित्व मानते हैं। एक शुद्ध-निर्मल-उज्ज्वल इकाईके रूपमें यह आत्मा जो है, वह जीवित ही रहता है, शुद्ध द्रष्टा! तो मन होता है दो तरहका।

शरीरमें भी दो तरहका मन होता है—एक अष्टदलाकार अधोमुख कमलके रूपमें हृदयमें और एक अष्टदलाकार कमलके रूपमें नाभिमें। इसको पौद्गलिक मन मानते हैं। आठ-आठ दल दोनोंमें होते हैं। मनकी कथा तो बड़ी विचित्र है न!

ऐसा मानते हैं कि जब हम सोते हैं, तब दोनों कमल संकुचित हो जाते हैं। जब हम जागते हैं, तब दोनों कमल खिल जाते हैं।

हमारे तान्त्रिक लोग कमल तो दोनों मानते हैं, परन्तु मनका निवास हृदयकमलमें ही मानते हैं। वे नाभिकमलमें मनका निवास नहीं मानते हैं।

जैन लोग नाभिकमलमें भी ध्यानका विषय मानते हैं। हमारे 'किनारामी' सन्त हैं, वे भी नाभिकमलमें ध्यानका विषय मानते हैं। माने, मनको एकाग्र यदि उसके केन्द्रमें करेंगे, तब तो हो जायगा, और चाहे जहाँ करेंगे, पाँवके अँगूठेमें मनको केन्द्रित करने लगो, तो बड़ा मुश्किल पड़ जायगा। हृदयमें केन्द्रित करो, तो बड़ा आसान पड़ेगा। आँखके ऊपर करो, तो बड़ा आसान पड़ेगा। क्योंकि, मन जहाँ पहलेसे ही घूम-फिरकर आता रहता है वह एकाग्रताके लिए आसान होता है।

जैनमतमें मन जो है, मध्यम परिमाण है। वह नाखूनसे ले करके सिरतक सारे शरीरमें मनको व्याप्त मानते हैं और वे नाभि एवं हृदय—दो केन्द्र मानते हैं।

ज्ञानात्मक जो मन है, वह 'अपूर्वम्' है—यह भी वेदमें-से ही लिया हुआ है। एक 'इन्द्रियम्-मन' है और एक 'अनिन्द्रियम्-मन' है। आँख-कान आदिमें जो मन है, वह तो बाहरके विषयोंको ग्रहण करता है। एक 'अनिन्द्रियम्'='अल्पम् इन्द्रियम्'। संस्कृतमें 'अन् कार'का अर्थ 'अल्प' भी होता है।

जैसे, 'अनुदरा कन्या' बोलते हैं। माने, यह तो ऐसी लड़की है कि उसके पेट ही नहीं है। उसका 'बिलकुल ना' अर्थ नहीं होता, बड़ी सुन्दरी मानते हैं। उसको। 'अनुदरा कन्या'—यह प्राचीन शब्द है, 'पाणिनीय व्याकरण'में प्रयुक्त है। अनुदरा=अल्पोदरा। किसी शब्दके पहले 'अन्' लगने पर वह अल्पार्थक होगा।

मनकी गौरवगरिमा–

इसी प्रकार यह मन जो है, इन्द्रिय नहीं है। इन्द्रिय नहीं है=इन्द्रका बल होनेपर भी, आत्माके द्वारा प्रेरित होने पर भी, यह बाहरी इन्द्रियोंकी सहायताके बिना, भीतर ही जहाँ गाँव नहीं है, वहाँ गाँव बना दे! जहाँ मन्दिर नहीं है, वहाँ मन्दिर बना दे। जहाँ सरोवर नहीं है, वहाँ सरोवर बना दे! यक्ष है!!

किसीको यक्ष सिद्ध था। एक आदमी जंगलमें घूम रहा था। उसे बड़ी प्यास लगी, भूख लगी, अनजानमें ही वह कल्पवृक्षके नीचे पहुँच गया। उसने कहा—'ओहो। वृक्षकी छाया तो बहुत बढ़िया। पानी चाहिए। सरोवर होता तो स्नान करते, जल पीते!'

देखा, तो सामने सरोवर! उसने स्नान कर लिया, जल पिया। बोले—'यहाँ भोजनकी सामग्री होती, तो भूख मिटती।' लो थाल! अब उसके मनमें डर लगा कि 'यहाँ कहीं कोई यक्ष तो नहीं है?' एक भूत—यक्ष भी सामने आकर खड़ा हो गया।

उसके मनमें आया कि—'कहीं हमारे ऊपर चढ़ न बैठे!' तो वह चढ़ बैठा। यह सब कहाँसे हुआ? यह सब 'अपूर्वं यक्षम्'की शक्तिसे हुआ।

'अपूर्वं यक्षम्'का अर्थ है कि यह यक्ष बाहर नहीं रहता, भीतर ही रहता है। पूर्वम्=प्राक् माने,

इन्द्रियाणां विषयो न भवति।

यह इन्द्रियोंके सामने नहीं रहता, यह शरीरके भीतर ही रहता है। इस परमात्मारूप कल्पवृक्षकी छायामें तुम रहते हो। वहाँ अपने बारेमें तुम जैसा सोचोगे, वैसे हो जाओगे। अपने बारेमें हीनभावना नहीं लानी चाहिए। यह अपूर्व यक्ष है।

देखो, पहली बात तो यह है कि तुम परब्रह्म परमात्मा ही हो!

दूसरी बात यह है कि शुद्ध द्रष्टा हो तुम!

तीसरी बात यह है कि ईश्वरके अंश हो, कर्ता हो तुम! और,

चौथी बात यह है कि शरीरके संचालक हो तुम! अपने आपको कहीं भी अवसन्न मत करो।

नात्मानम् अवसादयेत्।

मनके स्वामी बनो—

मनुष्यको अपने मनका गुलाम नहीं होना चाहिए, अपने मनका मालिक होना चाहिए। हुकुम दो!

एक सेठ थे; उत्तरप्रदेशके थे। 'बनारस'में उनकी महिमा थी। उनके ऊपर एक जिन्द आता था, जिन्द! बड़े धर्मात्मा थे। हे भगवान्! रेलगाड़ीमें पूरा डिब्बा रिजर्व कराकर चलते थे। यात्रा हो रही है और बीचमें नाचने लगे, गाने लगे, कूदने लगे, 'कुरान'की आयतें बोलने लगे!

मुनीम रहता था साथ। वह सँभालता था। बादमें ठीक हो जाते तो कहते कि—'मुनीमजी! किसीको बताना मत!' जेबमें-से निकालकर सौ-दो सौ-पाँच सौ रुपया उसको इनाम दे देते और कहते, 'किसीको मालून न पड़े कि इनके सिरपर जिन्द आता है।' नारायण! यह बहुत विलक्षण है!

तुम्हारे भीतर यह जो यक्ष है न, यह तुमको नचाता है, हँसाता है। हम यह कह रहे थे कि जो बड़ा भारी सेठ! करोड़पति आदमी! और, अपने मुनीमको हाथ जोड़ता था, क्योंकि अपना सेठपन उसको भूल जाता था।

तुम मालिक हो अपने मनके। मालिक माननेका अर्थ यह होता है कि मन आज्ञांकित हो। ऐसे ही हम मालिक नहीं मानते हैं। एक धनी होता है, धनस्वामी और एक धनदास होता है। जिसके पास धन तो बहुत हो, पर किसीको दे न सके, देनेका सामर्थ्य नहीं है, तो वह धनका सेवक हुआ। जिन्दगीभर सेवा करेगा और वैसे ही छोड़कर मर जायगा। पता नहीं, किसके हाथ लगेगा?

जो धन-स्वामी होता है, वह अपना अधिकार रखता है। जो जिसका मालिक होता है, वह जो चीज चाहे, सो किसीको दे सकता है।

देखो, दुनियामें जो भी चीज हो, तुम सोचो कि दुनियामें क्या चीज तुम नहीं छोड़ सकते? क्या चीज तुम नहीं छोड़ सकते? जो चीज तुम नहीं छोड़ सकते, नहीं दे सकते, वह भी एक दिन तुम्हें छोड़नी पड़ेगी। वह भी एक दिन तुम्हें देनी पड़ेगी। तो यह बिलकुल मोह है। यक्ष लगा हुआ है।

यक्षका वशीकरण—

यदि यह यक्ष तुम्हें सिद्ध हो जाय, तो यक्षसे अपनी सेवा मत लो। दूसरेकी सेवा भी उससे कराओ। इसकी एक बात देखो, व्यवहारकी बात सुनाता हूँ।

जैसे, घरमें पति-पत्नी रहते हैं और कभी झगड़ा हो जाय तो—'हमारे मनकी रहे'—यह आग्रह बिलकुल नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह तो तुम्हारा नौकर है! 'चुप! सामनेवालेके मनकी होने दो'—ऐसे अपने मनको आज्ञा दो। तब तो मन तुम्हारा नौकर है!

यदि तुम्हारा मन प्रबल हो उठा और तुम जिद्द कर बैठे, कि—'नहीं, आज तो हमारे मनकी होगी', तो मन तुम्हारा नौकर नहीं रहा। तुम मनके नौकर हो गये। दुनियादार लोग बिलकुल उलटा समझते हैं। दो आदमियोंमें

परस्पर व्यवहारका मौका पड़े तो जहाँ तक धर्मका विरोध न हो, सामनेवालेकी बात मान लो, अपना आग्रह छोड़ दो!

समझो कि हमसे यहाँ कोई आकर कहे कि—'तुम झूठ बोलो!' तब तो वह धर्मके विरुद्ध हो गया। लेकिन, वह यह आकर कहे कि—'तुम ऊपर मत बैठो, नीचे बैठ जाओ'; तो इसमें धर्मका विरोध कहाँ है? नीचे बैठ जायेंगे! इस मनके अनुसार नहीं, उसके मनके अनुसार सही! जहाँ तक धर्मका विरोध न हो, वहाँ तक अपने मनकी वासना जो है, उसको इतनी हल्की-फुल्की रखना कि सामनेवालेके मनके अनुसार चले, तब तुमको दुःख नहीं होगा।

यह यक्ष तुम्हारे वशमें है, यह बात हम कब समझेंगे? इस यक्षको हम वशमें तब समझेंगे, जब यह तुम्हारी आज्ञा मान करके दूसरेके मनके अनुसार भी चलने लगे, धर्मके अनुसार चले, शास्त्रके अनुसार चले।

मनकी तटस्थता—

तुम्हारे जीवनमें दुःख क्या है? यह हमको मालूम है, हम शकल देखकर पहचान जाते हैं। हम तुम्हारे दुःखको समझते हैं।

व्यवहार करते समय जब तुम यह भूल जाते हो कि सामनेवालेके भी मन है और हमारा मन तो मन है, दूसरेका मन चुकन्दर है। आखिर उसका भी तो मन है! उसके मनको भी समझो! कभी अपने मनको छोटा कर दो, उसको बड़ा बना दो!

देखो, हमारे महात्माओंमें बड़ी बढ़िया एक चीज है। अच्छे साधुओंमें सबमें वह पायी जाती है। साधुकी अच्छाईका नमूना है यह! एक-दूसरेसे जब मिलते हैं, तो पूछते हैं। एक-दूसरेको समझनेके लिए बात पूछते हैं। समझते हों, तब भी पूछते हैं। स्वामी असंगानन्दजी महाराज मिलते हैं, तो पूछना ही शुरू कर देते हैं। तो वे पूछते नहीं हैं; उनको जाननेकी जरूरत नहीं है। वे हमारा आदर करते हैं।

आदरकी परिपाटी यह है कि तुमको कोई काम करना हो और अपने घरवालोंसे सलाह करके करो, पूछकर करो। उसमें यदि तुम्हारा बहुत बड़ा नुकसान न हो, तो उन्हींके मनकी करो।

मैंने सुना, एक घरमें झगड़ा इस बातका था कि पतिने कहा—'आज पीले रंगकी साड़ी पहनो!' पत्नीका कहना था कि—'मैं हरे रंगकी साड़ी पहनूँगी।' दोनोंमें वह लड़ाई हुई, महाराज! सारा घर विषैला हो गया। अब देखो, इतनी छोटी बात पर अगर अपने मनके वशमें हम हो जायेंगे और दूसरेके मनकी परवाह नहीं करेंगे, तो दुःखी हो जायेंगे कि मिट जायेंगे। क्योंकि तुम्हारे साथ एक भूत लगा हुआ है। कभी-कभी यह तुमको ऐसा बिगाड़ देता है!! सावधान रहना चाहिए।

मन अमृत है—

जिस दिन यह अपने मनकी जिद्द रखनेको कहे, उस दिन तो जरूर ही दूसरेके मनकी मानना चाहिए। दूसरेके मनके साथ अपने मनको मिलाओ, तो वह तुम्हारे लिए अमृत हो जायगा, विष नहीं होगा। दवा हो जायगा।

यह यक्ष मन है और आत्मा ही मनके रूपमें व्यक्त होता है। 'आत्माका गुण है मन'—ऐसा भी एक विचार है, क्योंकि संकल्प जो होते हैं, वे आत्माके ही गुण हैं।

दूसरा विचार यह है कि—'मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है। बौद्धोंका तो कहना है कि'—'मन ही आत्मा है।' तुम जो 'आत्मा-आत्मा' कहते हो, वह तुम्हारा मन ही है। यह शुद्ध होनेपर ज्ञानात्मक-आत्मा है और यह विषय-संपृक्त्व होनेपर जीव है। विषयसे तादात्म्य होनेपर जड़ है। मन ही जड़ है। मन ही जीव है। मन ही आत्मा है। यदि इसको तुम शुद्ध कर लो! शुद्ध करके देखो, तो यह 'उमा भगवती'के रूपमें प्रकट होता है।

अग्निका जिसके ऊपर कोई बल नहीं चलता, वायुका जिसके ऊपर कोई बल नहीं चलता, इन्द्र जिसको देख नहीं सकता, वही मन 'हैमवती ब्रह्मविद्या'के रूपमें 'उमाके रूपमें प्रकट होता है। यह' 'उ' नहीं है, 'मा' है। 'मा' नहीं, 'प्रमा' है। इसलिए 'मा' बोलते हैं। 'उ' तो झूठा है, 'मा'को छिपानेके लिए है। यह 'मा' है। मा=प्रमा है, यथार्थ ज्ञान है।

अपूर्वम्=इन्द्रियोंसे विलक्षण है। मन इन्द्रियोंसे विलक्षण है और आत्माके साथ बिलकुल संनिहित है। यह आत्माकी अभिव्यक्ति है।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

अगर तुम अपने मनको बना लो, तो दुनियामें चाहे कुछ हो जाय, तुम दुःखी नहीं होगे।

ब्रह्मानुभव और स्मृति–

हम आपको स्पष्टरूपसे बताते हैं, इस मनमें जितनी बातें हैं, सब बाहरसे डाली हुई हैं, भीतरसे निकली हुई कुछ नहीं हैं। इसलिए अकेलेमें जाकर बैठोगे, तो बाहरसे डाली हुई जो बातें हैं, वही याद आयेंगी। अथवा यदि बाहरसे डाली हुई बातें याद नहीं आयेंगी, तो मनोराज्य भले होता रहे, परन्तु सत्यका अनुभव नहीं हो सकता।

दुनियाकी चीज मनमें आये, इससे भी सत्यका अनुभव नहीं हो सकता और न आये, इससे भी सत्यका अनुभव नहीं हो सकता। इसलिए हमारे आस्तिक समाजमें 'भगवदाकारवृत्ति' भी श्रवण आदिके द्वारा डालनी पड़ती है। ब्रह्माकारवृत्ति भी, 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यकी वृत्ति भी श्रवण आदिके द्वारा भीतर डालनी पड़ती है। यह रंग, यह चूना तो डालना ही पड़ेगा।

भगवद्भक्तिमें तो ऐसा है, जैसे पानीमें शहद मिला दिया, मीठा हो गया और ब्रह्माकारवृत्ति ऐसी है, जैसे पानीमें निर्मली बूटी डाल दी और मैल कट गया तथा अपने आपको ब्रह्मरूपसे अनुभव होनेसे परिच्छिन्नता कट गयी।

अच्छा देखो, आपसे एक सवाल करते हैं। हम यह समझकर बात नहीं करते हैं कि आप सब ब्रह्मवेत्ता हैं और न यही समझकर बात करते हैं कि आप सब अज्ञ हैं। बीचमें तो मानना ही पड़ेगा थोड़ा-थोड़ा भीतर।

आपको जो अनुभव हुआ है, उसकी याद आती है कि नहीं! अरे, बड़ी करारी तलवार है यह, भला! यदि आपको किये हुए अनुभवका स्मरण होता है, याद आती है, तो वह आपका अनुभव बिलकुल विषय-सम्बन्धी है, परमार्थ-सम्बन्धी नहीं है।

रातको बैठे थे, तब समाधि लग गयी। उसकी अब याद आ रही है। हमारे एक महात्मा 'उत्तरकाशीमें' थे। एक दिन उनको रातको दस बजकर पाँच मिनटपर ब्रह्मका अनुभव हो गया! तो फिर जिन्दगी भर उन्होंने उसीकी याद की। दस बजकर पाँच मिनटपर उनको जो ब्रह्मानुभूति हुई थी, उसको जिन्दगी भर याद करते रहे!

देखो, आपको यह बताते हैं कि जिस बातकी याद आती है, वह तो भूतमें छूट गयी। वह तो 'यक्ष' हो गयी। जिसकी स्मृति आती है, वह इस समय अपरोक्ष नहीं है। इस समय तो वह परोक्ष हो गया। परोक्ष हो गया, तो वह अनुभव तो मर गया है और उसका मुर्दा तुम्हारे मनमें सड़ रहा है।

स्मृति माने क्या होता है? क्या इस समय ब्रह्म नहीं है? इस समय क्या तुम वही नहीं हो? तो इस समय तुम्हें अपरोक्ष ब्रह्मका स्मरण क्यों होता है? अरे मेरे बाप! इस समय तुम्हें जो स्मरण होता है न, यह तो परोक्षका होता है! जो परोक्ष है, वह तो ब्रह्म ही नहीं है, क्योंकि वह तो कालमें कट गया।

इस समय क्यों नहीं है? इस रूपमें क्यों नहीं है? यहीं क्यों नहीं है?

जो यहाँ नहीं है, जो अब नहीं है, जो यह नहीं है, जो तुम्हारी आत्मा नहीं है, उस अनुभवकी याद कर- करके ब्रह्मानुभूतिकी मिथ्या कल्पना करनेमें सत्यका साक्षात्कार नहीं है।

सत्यकी कसौटी–

वेदान्त-ग्रन्थोंमें बड़ा बढ़िया प्रश्न उठाया गया। यह 'स्मृति और ब्रह्मानुभव'की बात आपके ध्यानमें आ गयी! इसका सिद्धान्त सुना दें। जिस समय जिस वस्तुका अनुभव होता है, उस समय उसकी स्मृति नहीं होती। और, जिस समय जिसकी स्मृति होती है, उस समय उसका अनुभव नहीं होता। यह मनोविज्ञान है। एक ही अन्तःकरणमें स्मृति और अनुभव दोनों एक साथ होते ही नहीं।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

निष्कर्ष–

(१) कल देखे हुए की आज स्मृति होती है।

(२) वहाँ देखे हुएकी यहाँ स्मृति होती है।

(३) उस रूपमें देखे हुएकी इस रूपमें स्मृति होती है।

तुम समझते हो कि रातको हमने ब्रह्मानुभूति की थी और इस समय उसका स्मरण कर रहे हैं। वह तुम्हारा ब्रह्म तो क्षणिक था। अरे, यह तो बिलकुल—

दोउ हाथ मुद मोदक मोरे।

यह अनुभूति तो बिलकुल स्पष्टं-स्पष्टं है।

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्।

परिच्छिन्न अहंका नाश–

वेदान्त-दर्शनमें एक प्रश्न उठाया हुआ है—'ब्रह्मसूत्र'की कथा करते हैं, वह तो बड़ी लम्बी है। उसमें ५५५ सूत्र हैं और १९१ अधिकरण हैं। १६ उसके पाद हैं और ४ अध्याय हैं। बड़ा भारी है। उसमें एक प्रश्न उठाया है—

'कपिल'ने जो कहा, सो प्रमाण क्यों नहीं? वही सत्य क्यों नहीं?

बोले—'फिर गौतमने जो कहा सो?'

'फिर पतंजलिने जो कहा सो?'

'जैमिनीने जो कहा सो?'

यह प्रश्न उठाया हुआ है। ये चारों अलग-अलग अपने-अपने अनुभवकी दुहाई देते हैं कि—'यह हमारा', 'यह हमारा', 'यह हमारा', 'यह हमारा'! जैसे 'हम-हमके बच्चे!' हमारा बेटा, हमारा बेटा, हमारा बेटा, हमारा बेटा करके, बेटे अलग-अलग जैसे कर लेते हैं, वैसे अपने-अपने अनुभवोंको भी अलग कर लेते हैं।

अरे बाबा! यह हम-हमको मिटाकर जो अनुभव होता है न; जिसमें सारे अनुभव—'कपिल' और 'पतंजलि', 'जैमिनी' और 'व्यास' जिसमें 'शंकर' और 'रामानुज' किसी भी व्यक्तित्वके आधार पर सत्यको परखा नहीं जाता। सीधी बात है। अनुभवके साथ व्यक्तित्वकी क्या चर्चा है? वेदान्तदर्शनमें निर्णय किया—

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात्।

वेदान्तदर्शन २.१.१

यदि कहो कि कपिलकी स्मृति न माननेसे दोष होगा, तो फिर हम कहेंगे कि 'जैमिनी'की स्मृति न माननेसे भी दोष होगा। स्मृतिका अर्थ ही है कि उन्होंने जो-जो अलग-अलग अनुभव किया उसकी स्मृति लेकर पोथीमें लिख दिया। तो अलग-अलग तो अनुभव हुआ, वह तो 'अहम्-अहम्'के आधारपर हुआ। वह तत्त्वका निर्णय कैसे हुआ?

अहंकार तो एक आकारका समुल्लेख है—'अहम् अहम्-अहम्'!

'अहम्-अहम्-अहम्'—यह तो एक बूँद है! यह तो एक तरंग है! यह तो एक बुलबुला है। और, इसी बुलबुलेके गुणकी परीक्षा करके तुमने कह दिया कि—'यही जलतत्त्व है।' तो वह गुण नहीं है, वह स्वाद नहीं है।

एक ऐसी चीज चाहिए, जो परिच्छिन्न अहंका नाश करे। अपरिच्छिन्न अहंका जो ज्ञान है, वह अहंकी परिच्छिन्नताका नाश करता है।

सर्वभूतहिते रताः–

जैन, बौद्ध और वेदान्ती एक बातके बारेमें बड़े सहमत हैं। तीनोंमें एक ऐसी शृंखला है, एक ऐसी कड़ी है। वे कहते हैं कि—'इस परमार्थकी प्राप्ति हो जानेपर केवल क्लेशकी शान्ति और मोक्ष ही नहीं होता, एक और बात हो जाती है। उसका जो जीवन शेष होता है, उसमें महाकरुणाकी धारा प्रवाहित होती है।' ऐसा वे बोलते हैं। उसमें सबका भला ही है। उसमें किसीकी हानि नहीं है।

जैन लोग बोलते हैं। कि —'अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो जाती है।'

बौद्ध लोग बोलते हैं कि—'करुणाकी प्रतिष्ठा हो जाती है।'

वेदान्ती लोग बोलते हैं कि—'सर्वभूतहिते रताः' माने सर्वभूतहितरतिकी प्रतिष्ठा है। ब्रह्मज्ञानी है यह।

सर्वभूतहितरति वेदान्तियोंकी, महाकरुणा बौद्धोंकी और अहिंसा जैनोंकी। जिसको परमार्थ तत्त्वका साक्षात्कार होता है, उस व्यक्तिगत जीवनमें लोगोंकी भलाई-ही-भलाई है। हमारा कोई प्रयोजन अगर सृष्टिमें है तो, येन केन प्रकारेण लोगोंका दुःख दूर हो, अज्ञान दूर हो।

लोगोंका दुःख दूर हो, यह एक पक्ष है। वह मृत्यु आदिके भयसे मुक्त हो, यह द्वितीय पक्ष है। और अज्ञान दूर हो, यह तृतीय पक्ष है।

✤

मन्त्र ३

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ ३॥

प्रज्ञानम्–

यत प्रज्ञानम् उत चेतो धृतिश्च।

यत् प्रज्ञानम्—यह प्रज्ञान है। **प्रज्ञाम्=प्रकर्षेण ज्ञायते अनेन इति प्रज्ञानम्। विशेष प्रतिपत्तिः प्रज्ञः।** जिससे हम वस्तुओंके अलगावको ठीक-ठीक समझते हैं।

चेतः=सामान्यरूपसे जिससे हम सचेत हैं।

प्रतिपत्ति-सामान्य और विशेष–

हमारी तरफ यह मिट्टीका जो घड़ा बनता है न, यह लाल-लाल बनाते हैं। 'बनारस'की तरफ हमने तो कुम्हारके घरमें देखा है। अवाँमें तपनेपर ये इतने लाल-लाल नहीं होते! वे घड़े पर लाल रंगका प्रयोग कर देते हैं तपनेके पूर्व इससे घड़े लाल-लाल हो जाते हैं। आगरामें घड़े देखो तो घड़े सीमेण्टी रंगमें दिखेंगे। वह भी रंग ही है। झंझर-कुंझर बनाते हैं न, सीमेंटी रंगके होते हैं।

इधर बम्बईमें हमने काले-काले घड़े भी देखे।

एक आदमीने एक जगह काला रंग देखा, एक जगह सीमेण्टी रंग देखा, एक जगह लाल रंग देखा। अब उसके ध्यानमें यह बात आती नहीं है कि ये सब घड़े हैं। क्योंकि, रंगपर उसकी नजर चली गयी।

एक दूसरे आदमीने कहा—'किसी भी रंगका घड़ा दे दो। पानी ही भरना इसका प्रयोजन है।'

अन्य एक व्यक्तिने पूछा—'नहीं, हम माटीकी परीक्षा करेंगे।'

माटीका असर पानीपर पड़ता है, जिस मिट्टीसे घड़ा बनता है न! मिट्टीकी भी कई किस्म होती है। एक मिट्टी ऐसी सोंधी-सोंधी होती है कि उससे बने हुए घड़ेमें पानी रखो, तो पानी स्वादु-सुगन्धित हो जाता है। एक ऐसी मिट्टीसे घड़ा बनता है कि उसमें पानी रखनेपर थोड़ी दुर्गन्ध आने लगती है। यह भी माटीका गुण है।

माटीकी परीक्षा, माटीका सुगन्धित होना, दुर्गन्धित होना, काला होना, लाल होना यह माटीकी विशेषता नहीं है।

विशेष-विशेष रूपमें घड़ोंको पहचानना, यह 'प्रज्ञान' है और एक-एक घटत्व जातिको पहचान लेना, यह सामान्य ज्ञान है।

देखो, 'सब स्त्री है'—यह सामान्य ज्ञान हुआ और 'यह पद्मिनी है,' 'यह शंखिनी है,' 'यह चित्रिणी है'—यह 'कोकशास्त्र'की रीतिसे स्त्री-विशेषको पहचानना—यह विशेष ज्ञान है। 'विशेषप्रतिपत्ति प्रज्ञा'का नाम 'प्रज्ञान' है और 'सामान्यप्रतिपत्ति प्रज्ञा'का नाम 'चेतस्' है।

प्रज्ञानं ब्रह्म–

अब देखो, आपको दूसरे ढंगसे यह बात सुनाते हैं। श्रुतिमें लिखा है—

प्रज्ञानं ब्रह्म।

प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञानं।

प्रकृष्टं=*विषयलेशरहितम्।* ज्ञानमें अशुद्धि क्या है? जैसे, पानीमें मिट्टी मिल जाय, तो शुद्ध पानी रहा न? मिश्रित पानी हो गया। ऐसे हमारे ज्ञानमें जब संसारका कोई विषय मिल जाता है, तब वह अशुद्ध ज्ञान हो जाता है। जरा ज्ञानको शुद्ध करो।

अशुद्धिका कारण अहंकार–

'यह' भी न रहे ज्ञानमें और 'मैं' भी न रहे ज्ञानमें, तब ज्ञान शुद्ध है। ज्ञानके दुश्मन हैं—'यह' और 'मैं' जब 'मैं' ज्ञानसे मिलता है, तब ज्ञानको जड़ बना देता है। 'यह' जब ज्ञानमें मिलता है, तब ज्ञानको दृश्य बना देता है। और, 'मैं' जब ज्ञानसे मिलता है, तब ज्ञानको टुकड़े-टुकड़े कर देता है। यह और मैं दोनों दुश्मन हुए न!

सब दोषोंकी जननी यही अहंकार है। आप देखना, आपको अपने घरमें दिनभरमें अगर सौ दुःख होते होंगे, तो उसमें-से दस दुःख तो हो सकते हैं कि सारी चीजें घरमें न हों! रोटी न हो, कोयला न हो, स्टोव न हो। पर नब्बे दुःख इसलिए होते हैं कि आपके अहंकार पर चोट लगती है। साड़ी बढ़िया न होनेका दुःख भी अहंकार पर ही चोट है।

एक बार हम जा रहे थे बद्रीनाथ! हम 'जोशीमठ'में पहुँचे। बहुत बड़े सेठ वहाँ ठहरे हुए थे। १४४ तो उनके साथ ढोनेवाली झँपाने थीं और एक-एकमें चार-चार कुली जुड़े हुए थे। उनके घरके ७०-७५ आदमी थे। तो कहीं ठहरनेकी जगह नहीं थी, 'उत्तरकाशी'में।

हम लोग शामको पहुँचे अन्धेरेमें। तो न कोई खानेकी चीज मिले, न ठहरनेकी जगह मिले! हम उस सेठके ही पास चले गये।

मैंने कहा—'अरे भाई!' वे हमको जानते थे, हमारी पहचान थी। उन्होंने तो हमको देखते ही झट् नौकर, मुनीम आदि थे, उनको हटाकर जगह ख़ाली करा दी।

उन्होंने पूछा—'स्वामीजी, आप खायेंगे क्या?'

हमने कहा—'हमारे पास तो बनानेकी जगह ही नहीं है।'

वे बोले—'हम आपके लिए पूरी बनवाते हैं।' उनके साथ एक पलटन रसोइयोंकी थी। तुरन्त पूरी बननी शुरू हुई। जब खाने बैठे हम लोग, मजेदार बात हो गयी। उनकी लड़की अभी बम्बईमें ही है, मौजूद है। वह परसने लगी भोजन। उससे भी जान-पहचान थी। जब वह गयी चौकेमें, तो रसोइयोंने समझा था कि पूरी तो बाबाजी लोगोंको खानेकी है? मोटी-मोटी बनायी थी।

लड़की बोली—'स्वामीजी भोजन करेंगे और मैं परसूँगी। और वह पूरी ले जाऊँगी?' मयपुरीके थाली उठाकर फेंक दी। फिर बनी बढ़िया पूरी। तब खाया हमने। एक अहं होता है न? घरमें तुमको ९० नहीं, ९९ प्रतिशत जो दुःख होता है, बाहरसे वह नहीं आता। तुम्हारे अहंमें-से निकलता है।

शुद्ध ज्ञान–

एक बार ज्ञानको साफ कर दो। 'अद्वयम्' कर दो। *अद्वयम्=ज्ञातृ-ज्ञेयभेदवर्जितम्।* ध्यानमें रखो, ज्ञातापने-का अहं और विषयपनेका इदं—यह और मैं दोनों नहीं हैं और ज्ञान है। तब श्रुति बोलेगी—वेद बोलेगा। क्या?

प्रज्ञानम् ब्रह्म।

'यह जो ज्ञाता और ज्ञेयके भावसे रहित ज्ञान है, यह निर्विषय और निरहं होनेसे'—

निर्विषय और निरहं होनेसे क्या है?

श्रुति कहती है—'यह ब्रह्म है।'

'ब्रह्म है'=इसमें 'इदं' न होनेसे देश-काल नहीं है। जहाँ 'यह' होगा, वहीं देश-काल होगा। 'यह'के बिना देश-काल नहीं होता है।

जहाँ 'यह' नहीं होगा, वहाँ 'यह'का ज्ञाता भी नहीं होगा। 'यह'के अभावका भी ज्ञाता नहीं है। ऐसा निर्विषय और निरहं ज्ञान शुद्ध ज्ञान है, अखण्ड ज्ञान है। वह कैसा ज्ञान है?

श्रुति कहती है—'प्रज्ञानं ब्रह्म।' ऐसा जो 'अद्वय प्रज्ञान ब्रह्म' है, वह कौन है? उसीसे एक होकर इसकी संज्ञा होती है—'प्रज्ञान'।

लक्ष्य और आलम्बनकी अनिवार्यता–

चाहे कर्म हो, धर्म हो, योग हो, संयोग-वियोगात्मक उपासना हो या अज्ञान हो, जब कोई साधक या जिज्ञासु हो, उसको लक्ष्य और आलम्बन दोनोंकी आवश्यकता पड़ती है।

हम अराजकतावादी बात नहीं करते हैं। कहाँ पहुँचना है, यह मालूम नहीं है और किस जरियेसे पहुँचना है, यह मालूम नहीं है और विचार,

उपासना, कर्म या योगमें व्यक्ति लग जायगा, तो वह पथभ्रष्ट हो जायगा। वह कान्दिशिक हो जायगा, माने किसी भी लक्ष्य पर वह नहीं पहुँचेगा।

कोई विचार करता है और उसको मालूम नहीं है, कि उसको कहाँ पहुँचना है? तब एक तो वह रास्तेमें ही रुक जायगा। उसीको वह लक्ष्य समझ बैठेगा; जैसा कि ज्यादातर वेदान्तके नाम पर होता है। *'चौबे गये छब्बे बनने और दुबे बनकर लौटे।'*

अपनेमें श्रेष्ठताका अभिमान करके विचारक तो बनते हैं, पर विचारका सिर-पैर तो उनको मालूम होता नहीं है। इसलिए उनके विचारमें विपरीत चार आ जाता है। चार=चाल। वि=विपरीत। असलमें विचार विशिष्ट चार है। विशिष्ट प्रकारकी गति, विशिष्ट प्रकारकी चाल। वह एक खास प्रकारकी वस्तुकी प्राप्तिके लिए साधन है।

कर्म-व्यवस्थामें आलम्बन–

सरकारको जब व्यवस्थित रूपसे काम लेना होता है, तो एक आदमीको बनाता है सिपाही और चौराहे पर उसकी ड्यूटी लगाता है। कर्मव्यवस्थामें दो आलम्बन हैं। अधिकारी भी नियुक्त हो गया और कर्म भी उसके लिए निश्चित हो गया। तब व्यवस्थापूर्वक कर्म होता है। चाहे जो चौराहे पर खड़ा होकर मोटरको रास्ता नहीं बता सकता। नहीं तो, दस आदमी रास्ते पर खड़े हो जायँ और दस तरहके हाथ उठाने लग जायँ, तो मोटर कहाँ जायगी? इसलिए कर्ममें भी अधिकारी और कर्म दोनोंका विचार निश्चितरूपसे होता है।

उपासना–

उपासनाकी बात देखो। आहार-शुद्धि='विवेक' और जो अपनेको ही बुरा मालूम पड़ता है, उसका 'विमोक' माने उसको छोड़ना। और, अभ्यास, कल्याण एवं क्रिया। जिस चीजका अभ्यास करते हैं, वह हमारे जीवनमें रच-पच जाता है। उसके लिए थोड़ी क्रिया करनी पड़ती है। कल्याणीय वस्तुओंका सेवन करना पड़ता है। जैसे—तुलसी, चन्दन, माला।

संसारके विषयोंकी प्राप्तिसे ज्यादा हर्ष और अप्राप्तिसे दुःख—ये सब सुख और दुःख मनको चंचल कर देते हैं। भक्तिके मार्ग पर चलना हो तो इनसे बचना चाहिए।

भक्तिके आचार्योंका यह मत है कि विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अविहर्ष—ये सातों साधन अपने जीवनमें आने चाहिए। यदि आपको भक्तिके मार्गमें चलना है, तो तुलसीकी गन्धमें प्यार चाहिए, चरणामृतमें प्यार चाहिए, भगवान्‌की मूर्तिमें प्यार चाहिए, भगवान्‌को पंखा झलनेमें-सेवा करनेमें प्यार चाहिए; भगवान्‌के गुणानुवादमें प्यार चाहिए और भगवान्‌की मूर्तिके ध्यानमें प्यार होना चाहिए। तब आपके जीवनमें भक्ति आवेगी। यह मैं अभी आपको दृष्टान्तरूपमें सुना रहा हूँ।

विचार–

अब मान लो आपको विचारके मार्गपर चलना है, तो जैसे प्रीतिके आलम्बन होते हैं—बारम्बार अपने प्यारेका नाम लेना, बारम्बार उसकी शकलका ध्यान करना, तो वह मूर्ति और वह नाम आलम्बन है।

बिना आलम्बनके भावका उदय नहीं होता। भावके लिए उद्दीपन और आलम्बन दोनों ही चाहिए। तब रसकी उत्पत्ति होती है।

अब आपको मैं रहस्यकी बात बताता हूँ। *'सर्वे श्रोताः सावधाना भवन्तु।'* सब श्रोता सावधान हो जायँ। विचारके लिए भी आलम्बनकी जरूरत पड़ती है।

यदि विचारको एक लक्ष्य तक पहुँचाना है, तो उसके लिए आलम्बनकी जरूरत पड़ती है। माने, विचारके भी स्तर होते हैं। यह नहीं कि आप सीधे ही घोषणा कर दें कि—'बस!' और 'धुरधामका मालिक मैं हूँ।' ऐसा नहीं।

तो ये विचारके स्तर क्या होते हैं? हम वेदान्तियोंको ध्यान देनेके लिए यह बात बारम्बार कह रहे हैं। तीन प्रकारके आलम्बन होते हैं विचारमें—

(१) अहमात्मक आलम्बन।

(२) इदमात्मक आलम्बन।

(३) प्रतीकात्मक आलम्बन। विचारमें ये आलम्बन होते हैं। मैं उपासनाकी बात नहीं करता हूँ।

विचारमें आलम्बन–

(१) अहमात्मक आलम्बन—विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय—ये चार हैं। इनमें प्रथम तीन—विश्व-तैजस-प्राज्ञ अहमात्मक आलम्बन हैं। पहले आप अपनेको 'विश्व'के रूपमें जानो। फिर तैजसके रूपमें जानो, फिर 'प्राज्ञ'के रूपमें जानो।

ब्रह्मात्मैक्यबोधमें अहमात्मक आलम्बन सहायक है। अपनेको प्राज्ञके रूपमें जान लेने पर फिर अपनेको 'तुरीय'के रूपमें जानो। यदि क्रमसे नहीं चलोगे, और विश्व-तैजस-प्राज्ञको समझोगे नहीं, तो अपनेको तुरीयके रूपमें कहना वाङ्मात्र हो जायगा।

विश्व-तैजस-प्राज्ञको तो समझा नहीं! स्थूल विश्वसृष्टिका आलम्बन, सूक्ष्म विश्वसृष्टिका आलम्बन, कारण विश्वसृष्टिका आलम्बन और अनिर्वचनीय मायाका आलम्बन लेकर उस तुरीयतत्त्वको समझ पाओगे, अपने आपमें आलम्बनत्व नहीं है —ऐसा है तुरीय तत्त्व।

इदमात्मक आलम्बन–

अब इदमात्मक आलम्बन देखो। जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अवस्था—ये तीनों इदमात्मक आलम्बन हैं। ये आती हैं और जाती हैं, आती हैं और जाती हैं। इनकी उपाधिसे विश्व-तैजस-प्राज्ञकी संज्ञा बनती है।

प्रतीकात्मक आलम्बन–

'अ'-कार, 'उ'-कार और 'म'-कार प्रतीकात्मक आलम्बन है। देखो 'माण्डूक्योपनिषद्'।

वेदान्तमें आलम्बन क्यों?–

वेदान्त माने आपके जीवनको एक शैलीसे ले जानेवाला। वेदान्त माने एक पद्धतिसे ले जानेवाला। आप एक व्याख्यान सुन लें और समझ लें कि—'आप वेदान्ताचार्य हो गये?' तो व्याख्यान सुननेसे कोई वेदान्ताचार्य, वेदान्ती नहीं हो जाता है।

आलम्बन-ज्ञानशुद्धिके लिए–

अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमय-कोश, आनन्दमयकोश और साक्षी एक।

जो अन्नमयकोशका साक्षी है, वही प्राणमय-कोशका साक्षी है, वही मनोमयकोशका साक्षी है, वही विज्ञानमयकोशका साक्षी है और वही आनन्दमय-कोशका साक्षी है।

यह हुआ आलम्बन ज्ञानको शुद्ध करनेके लिए, ज्ञानमें-से स्थूल सृष्टि हटानेके लिए अन्नमयकोशका विचार। ज्ञानमें-से सूक्ष्म सृष्टि हटानेके लिए प्राणमय-कोश, मनोमयकोश और विज्ञानमयकोशका विचार। और ज्ञानमें-से कारण सृष्टिको हटानेके लिए आनन्द-मयकोशका विचार अर्थात् अविद्याका विचार।

निष्कर्ष–

वेदान्तमें यह नहीं है कि आप फलको याद कर लें और क्रम दृष्टिसे विचार न करें। इसीको 'त्वं' पदार्थ और 'तत्' पदार्थका शोधन कहा जाता है। 'त्वं' पदार्थ और 'तत्' पदार्थका शोधन करोगे तब एकताका ज्ञान होगा।

निरालम्बनकी निरर्थकता–

निरालम्ब विचार और निरालम्ब भाव स्थायी नहीं होता। विचार निरालम्ब है, तो आप किस पहलूका विचार करते हैं?

देखो, आकाशमें एक कण उड़ रहा है। उसकी कितनी दिशाएँ हैं? यह आपने कभी विचार किया है? जो परमाणु है, उसके पूरब है, पश्चिम है, उत्तर है, दक्षिण है, ऊपर है और नीचे है। आप कभी अपने 'मैं'के बारेमें विचार करते हैं?

एक कण दिशामें तैर रहा है। उसी प्रकार आपका 'मैं' भी क्या दिशाओंमें तैर रहा है?

यत् प्रज्ञानं उत चेतो धृतिश्च।

शान्तिकी प्राप्ति–

अच्छा, देखो, आपको केवल शान्ति प्राप्त करनी है, तो भय, राग और द्वेष इन तीनोंको छोड़ दीजिये और 'अस्मिता'का भान न होवे। इससे शान्ति मिल जायगी; परन्तु इससे क्या आपकी परिच्छिन्नता मिट जायगी? परिच्छिन्नता नहीं मिटेगी। इसके लिए पूर्णताका बोध चाहिए।

बिना ब्रह्मात्मैक्यबोधके परिच्छिन्नता नहीं मिटेगी। शान्तिसे उठनेके

बाद क्या आपका अज्ञान मिट जायगा? शान्तिमें अज्ञान मिट जायगा। शान्तिमें अज्ञानका निवर्तकत्व नहीं है। शान्ति तो परोक्ष ज्ञान भी नहीं है। अपरोक्ष ज्ञानकी तो चर्चा ही क्या?

शान्ति तो ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान भी नहीं है। आत्मामें स्थिति है, परन्तु आत्माका ब्रह्म होना नहीं है। शान्तिसे राग-द्वेष और अभिनिवेश तीनों शान्त हो जाते हैं, विक्षेप निवृत्त हो जाता है, वासनाएँ शान्त हो जाती हैं। लेकिन उसमें परिच्छिन्नता और अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती है। अज्ञानकी निवृत्तिके लिए महावाक्यजन्य वृत्तिका उदय चाहिए। बिना अज्ञानकी निवृत्तिके परिच्छिन्नताकी निवृत्ति नहीं होती है।

शान्तिकालका स्मरण होता है विक्षेप कालमें—'हम शान्त हो गये थे।' वह शान्ति तो गयी और अब तुम विक्षेपकालमें हो।

अज्ञान-निवृत्तिके लिए विचारका आलम्बन—

जब ज्ञान होता है, तब जो शान्तिकालमें और विक्षेपकालमें एक है, उसका बोध होता है। जब अज्ञानकी निवृत्ति होती है, तब कालमें हम बहते नहीं और देशमें हम फैलते नहीं। देश और काल दोनों हमारे अन्दर कल्पना-मात्र हैं—यह बोध होता है। इसलिए यदि आपको विचार करना हो, तो 'गीता'का एक श्लोक लेकर देखो। इसका आलम्बन है यह। विचारका आलम्बन है यह—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

गीता ६.३०-३१

प्रज्ञानम्—

यत् प्रज्ञानम् उत चेतो धृतिश्च।

प्रज्ञानं=ज्ञान विचार। चेतो=योग। धृतिः=भक्ति, धारणा—शुभ वस्तुकी धारणा।

चेतो वृत्तिनिरोधानुरोधः।

चित्तवृत्तिका निरोध और अनुरोध दोनों चेतस् हैं। मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा यह चित्तका अनुरोध है और समाधि चित्तका निरोध है।

प्रज्ञानंका अर्थ है अद्वितीय आत्मबोध।

वेदान्तका महत्त्व—

प्रज्ञानम्—यह बात वेदान्तकी बहुत ऊँची है सृष्टिमें! किसी भी सिद्धान्तने इसका स्पर्श नहीं किया है। मुसलमान, ईसाई, और दूसरे धर्मोंकी तो बात ही छोड़ देते हैं। हिन्दूधर्ममें भी उपनिषद्के सिवाय मौलिकरूपसे इस तत्त्वका स्पर्श किसीने किया ही नहीं है कभी। यह बड़ी अद्भुत रीति है।

'बाईबिल', 'कुरान'की तरह यह 'वेद' धर्मग्रन्थ नहीं है। दोनोंका भेद आपको मालूम है? बता देते हैं। आपको याद रहेगा बता देंगे तो। वक्ताकी प्रधानतासे 'बाइबिल' और 'कुरान'का महत्त्व है। यह ईश्वरकी वाणी है, यह 'मुहम्मदसाहब'की वाणी है, यह 'गीता'की वाणी है, यह ईश्वरकी वाणी है। वाच्यकी प्रधानतासे 'वेद'का महत्त्व है। आया ध्यानमें? अद्वितीय वस्तुका निरूपण करनेके कारण वेदका महत्त्व है। वेद एक सच्ची चीजको लखाता है, इसलिए वेदका महत्त्व है। हम सब धर्मोंके ग्रन्थोंसे वेदकी तुलना नहीं कर सकते हैं। अपौरुषेय वचन नहीं, अपौरुषेय ज्ञान-जनकता! 'द्वैत है ही नहीं'—इस वस्तुका बोधक होनेसे 'वेद' हमारा धर्मग्रन्थ है।

ईश्वरका बोला हुआ होनेसे 'वेद' हमारा धर्मग्रन्थ नहीं है। ईश्वरका वचन होनेसे 'वेद' प्रमाण नहीं है। परमार्थ-वस्तुका बोधक होनेसे 'वेद' प्रमाण है। इस बातको लोग जानते नहीं हैं।

दुनियामें इस बातको बहुत लोग जानते हैं कि मनमें जो कुछ है, वह बाहरसे डाला हुआ है, कुछ आँखसे, कुछ नाकसे, कुछ जीभसे, कुछ त्वचासे। उनको प्रमाण बोलते हैं। बाहरसे डाली हुई चीजोंका संस्कार ही मनमें मालूम पड़ता है।

अध्यारोप-अपवाद—

इन सब संस्कारोंको घटानेके लिए, इनका बाध करनेके लिए, एतद्विषयक अज्ञानको दूर करनेके लिए बाहरसे ही ब्रह्मात्मैक्यबोधको

डालना पड़ता है। भीतरसे वह प्रकट नहीं होता है। क्योंकि अद्वितीय वस्तु लुप्त होनेवाली और प्रकट होनेवाली नहीं होती है। वह एकरस होती है। वह कभी प्रकाशित हो जाय स्वयं और कभी अन्तर्हित हो जाय स्वयं, यह उसमें नहीं होता है।

यह तो उपाधिमें ही सारी क्रिया करनी पड़ती है। उपाधिमें जो डाला हुआ ब्रह्मात्मैक्यबोध है, वह इन्द्रियोंके द्वारा डाली हुई भेदभ्रान्तिका निवारण करता है। अध्यारोप और अपवादसे ही साधन-साध्य भाव होता है। वस्तुतत्त्वमें साधन-साध्य भाव नहीं होता।

श्रद्धा–

धृति माने श्रद्धापूर्वक शुभ वस्तुकी धारणा। वेदान्तमें श्रद्धाको अज्ञानका निवारण करनेवाली नहीं माना जाता। श्रद्धा तो अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाली एक बहिरंग साधन-प्रक्रिया है। यह मैं वेदान्तका सिद्धान्त आपको बता रहा हूँ।

परोक्ष ज्ञान भी अज्ञानका निवारण करनेमें समर्थ नहीं है। परोक्ष ज्ञान केवल असत्त्वापादक आवरणको भंग करता है। अभानात्मक आवरणको भंग नहीं करता।

जिस वस्तुका किसी भी इन्द्रियके द्वारा अद्वितीयता, अनन्तता, अविनाशिता, पूर्णताका ज्ञान नहीं होता है, उस वस्तुको हमारे चित्तमें बाहरसे डालकर सारे कूड़े-करकटको निकाल देता है। आत्मदेव अद्वितीय ब्रह्म है—ब्रह्माद्वैत! जीव-जगत्-ईश्वरका भेदभाव बिलकुल नहीं है।

अमृत-ज्योति–

यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।

यह अमृत-ज्योति है। यह ऐसी अमृत-ज्योति है कि इन्द्रियाँ मर जाती हैं, विषय मर जाते हैं, व्यक्ति मर जाता है और बड़े-बड़े धुरधाममें बैठे हुए आचार्य लोग मर जाते हैं।

एक बार एक भगतने हमसे कहा—'अरे भाई! 'शंकराचार्य' जिसको प्रणाम करते हैं, उसने मुझको यह बात बतायी है, तो सच्ची है।'

मिथ्या परिच्छिन्नता–

मैंने कहा—'तुम्हारे 'शंकराचार्य', 'शंकराचार्य' जिसको प्रणाम करते हैं वह और तुम—ये तीनों ज्ञानस्वरूप आत्मदेवमें बिना हुए ही भास रहे हैं।' है न? यह अद्वैतवेदान्त कोई चुटकुला नहीं है कि सुनकर हँस दो! और, हँसकर समझ जाओ! नारायण! यह बड़ा गम्भीर तत्त्व है।

जो अनुभव लोगोंको अलग-अलग होता है जैसे—चींटीके अनुभवसे भौंरेका अनुभव अलग है। भौंरेके अनुभवसे हाथीका अनुभव अलग है। हाथीके अनुभवसे घोड़ेका अनुभव अलग है। घोड़ेके अनुभवसे कर्मीका अनुभव अलग है। कर्मीके अनुभवसे उपासकका अनुभव अलग है। उपासकके अनुभवसे योगीका अनुभव अलग है। योगीके अनुभवसे 'कपिल'का—सांख्यका अनुभव अलग है और उससे मीमांसाका अनुभव अलग है।

ये सब जो अलग-अलग अनुभव होते हैं, ये सब व्यक्तिकी प्रधानतासे होनेके कारण सब-के-सब मिथ्या हैं। ये तो परस्पर कटे हुए हैं। एकका अनुभव दूसरेके अनुभवको काट देता है।

'अनुभव-अनुभव-अनुभव!' यह व्यामोहक कोलाहल दुनियामें बेवकूफ लोग, जो तत्त्वके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते हैं, वे पृथक्-पृथक् अनुभवकी बातोंको सुनकर व्यामोहमें पड़ जाते हैं। 'हमारा अनुभव, हमारा अनुभव, हमारा अनुभव!'

अनुभवको तुमने तलवारसे काट-काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया है। 'हमारा-हमारा' मरेगा कब? जब सब 'हम-हम'का जो अधिष्ठान है अद्वितीय ब्रह्म, उसका बोध होगा तब! 'हमारा-हमारा' जबतक मरेगा नहीं, तबतक वह बोध होगा नहीं।

कर्म-साधना–

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते।

अब कर्म-साधना आयी। प्रज्ञानं=ज्ञान-साधना। चेतस्=योग-साधना। धृतिः=उपासना।

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते=जिसके बिना कोई कर्म नहीं होते

हैं। भौतिकवादी कहते हैं, 'ज्ञानका फल कर्म है' और अध्यात्मवादी कहते हैं-'कर्मका फल ज्ञान है।' 'अवाद'में न ज्ञान है, न कर्म है। तत्त्वमें न 'वाद' है, न 'अवाद' है। यह उसकी महिमा है। 'यस्मान्न.... क्रियते।'

सर्ववृत्तिरूप मन-

दूसरे मन्त्रमें यह बात बतायी कि सामान्य और विशेषका ज्ञान भी मन ही है। यहाँ तक कि जो प्रज्ञानाभिन्न ब्रह्मका ज्ञान होता है, वह ज्ञान भी मन ही है। ज्ञान होने पर अज्ञानकी निवृत्ति हो गयी। अब ब्रह्म ही ब्रह्म है। माने, वह वृत्ति-अज्ञातज्ञापक वृत्ति है 'प्रज्ञान'। वह भी मन ही है। जो चेतोवृत्ति निरोधानुरोधरूप योग है, वह भी मन ही है और जो धर्मोपासनारूप वृत्ति है, वह भी मन ही है। बादमें यह बात कहते हैं—

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते।

जिस मनके बिना कोई काम नहीं किया जा सकता। जब हम बिना मनके भी करते हैं, उसमें भी थोड़ा मन रहता है। जैसे कोई बिना मनके मशीन घुमा रहा है, तो 'मशीन घुमानेसे पैसा मिलेगा, मालिक खुश होगा'— कहीं-न-कहीं उसमें उपादेय बुद्धि होगी। तभी वह मशीन घुमा रहा है। बेमनके घुमा रहा है, तब भी उसमें मन है।

मनसे धर्माधर्म-

धर्माधर्मकी उत्पत्ति बिना मनके नहीं होती। अगर मन न हो काम करनेमें, अनजानमें ही काम हो जाय! जैसे, सोते-सोते तुम्हारे हाथसे दबकर खटमल मर जाय या मच्छर मर जाय, तो उसका पाप नहीं लगता। क्योंकि तुमने जान-बूझकर मनसे वह काम नहीं किया। कर्म बनता ही तब है, जब कर्मके साथ तुम्हारा मन जुड़ता है।

अब समझो, तुमको मालूम नहीं और जेबमें-से पाँच पैसा गिर गया, और वह एक गरीबको मिला या एक ब्राह्मणको मिला! उससे तुमको धर्म नहीं होगा। दानका फल नहीं मिलेगा। तो कर्मकी उत्पत्ति ही बिना मनके नहीं होती।

आस्तिक सिद्धान्त—आस्तिक-सिद्धान्त यह है कि कर्ताके द्वारा कर्म होता है। कर्ता मनसे कर्म करता है, तब कर्ममें धर्मपना या अधर्मपना आता है। और, इसका संस्कार इकट्ठा होकर बादमें फल मिलता है। जहाँ मन नहीं है, जहाँ कर्तापन नहीं है, वहाँ कर्मसे फलकी उत्पत्ति नहीं होती।

शास्त्रीय दृष्टिकोण—हमारे वेदशास्त्रोंका अभिप्राय जो लोग सम्प्रदायकी रीतिसे नहीं करते, उनकी समझमें नहीं आता है। यह ऐसा नहीं है कि लेकर किताब उठायी, पढ़ा और समझ गये।

अबसे दो हजार वर्ष पहले, पाँच हजार वर्ष पहले लोग किस ढंगसे सोचते थे, उसको किस ढंगसे बोलते थे, अगर यह प्रक्रिया तुमको मालूम नहीं है, तो आजकलके ढंगसे तुम सोचोगे और आजके ही ढंगसे बोलोगे। वैसा ही वह दो हजार, पाँच हजार वर्ष पहलेवाला भी समझोगे। तो वह समझमें बिलकुल नहीं आयेगा।

पहले यह अध्ययन करना पड़ता है कि पाँच हजार वर्ष पहले कैसे बोला जाता था और मनमें किस अभिप्रायको कैसे प्रकट करनेके लिए किस भाषाका प्रयोग किया जाता था।

यही सब जहत् लक्षणा, अजहत् लक्षणा, भाग-त्याग लक्षणा, अभिधावृत्ति, व्यंजनावृत्तिके आधार पर समझ सकते हैं। इसीका नाम है प्राचीन बोलनेकी शैलियोंका अध्ययन।

निष्कर्ष यह है कि बिना मनके कोई कर्म होता ही नहीं। अब देख लो आप मन! कैसा है आपका मन? जितने साधन हैं, प्रज्ञानात्मक साधन, चित्तनिरोधात्मक साधन, धृत्यात्मक माने धर्मात्मक साधन और कर्तात्मक साधन—ये सब-के-सब मनके द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। बिना मनके कोई साधन नहीं होता। परन्तु मनकी महिमा इससे भी बड़ी है।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ ४॥

कालचक्र—ये कहते हैं कि तुम्हारे मनमें भूत कुछ बसता है कि नहीं? अरे! भूतके लिए तो मरते हैं। प्राचीन संस्कृतिके प्रेमी हजारों-लाखों आदमी कट गये हैं इस भूतके नाम पर, 'जो भूत था, वह भी रहना चाहिए वर्तमानमें!'

हे भगवान्! इस मनने भूतको पकड़ रखा है। बीजसे पेड़ पैदा हो गया और पेड़से बीज पैदा हो गया! फिर नये बीजसे नया पेड़ पैदा हो गया, फिर नये पेड़से नया बीज पैदा हो गया। और अपना मन? भूतको पकड़कर बैठा हुआ है। बरसों पहले जो मर गया, उसकी याद करके मनुष्य आज रोता है। जो छूट गया, उसको दिलमें बसाया।

अनादि भूत—यह भूत कहाँ है? अरे, यह भूत नहीं, अनादि भूत, भाई! यह भूत अनादि होता है। भूत और अनादि? यह कैसे होता है? भूतकाल किस दिन शुरू हुआ, यह बतानेका सामर्थ्य किसीमें नहीं है।

बहुत लोग जो सर्वज्ञ बनते हैं उनसे पूछना कि—'भूत किस दिन शुरू हुआ था, यह बताओ!' उनकी सारी सर्वज्ञताका लोप हो जायगा। वे झूठे हैं! उसको तो हम जानते हैं। हमको पूछो, हम बता देते हैं। हमेशा भूत अनादि होता है।

अनन्त भविष्य—अच्छा, भविष्यका अन्त कहाँ होगा? आप बता सकते हैं? बे-अन्त-भविष्य! हमेशा भविष्य अनन्त होता है।

भुवनम्—तुमने जो दुनिया पकड़कर रखी है, 'यह मेरा ताऊ है—ये मेरे चाचा हैं, ये मेरी नानीकी नानीकी नानीके वंशमें पैदा हुए हैं।' कहाँ सम्बन्ध जुड़ता है? भुवनम्-यही भुवन है। वर्तमानमें जो कुछ भास रहा है, वह सब मन है। भूतका जो कुछ भासता है, वह मन है। भविष्यका जो कुछ भासता है, वह सब मन है।

साधनाकी प्रणाली-

साधनकी प्रणाली दूसरी है और मनकी गतिका निरूपण बिलकुल दूसरा होता है। आज हम बात कर रहे थे, श्राद्ध करनेसे और यज्ञ करनेसे 'त्वं'-पदार्थके प्रति मनुष्यकी आस्था बढ़ती है। आत्मा देहातिरिक्त है, जिसका श्राद्ध किया जाता है। आत्मा देहातिरिक्त है, जो स्वर्गमें जाकर फल-भोग करता है। देहातिरिक्त आत्माके प्रति आस्था बढ़ानेका साधन है श्राद्ध।

देवपूजा, अवतार और ईश्वरकी मूर्तिपूजा 'तत्'-पदार्थके प्रति श्रद्धा बढ़ानेके लिए है। 'तत्'-पदार्थ ईश्वर कैसा है? यह बिना मूर्तिपूजाका आलम्बन लिये मनुष्यके हृदयमें भावका उदय नहीं होता। विराट् और विराट्के अवयवकी उपासना।

ऋषिपूजा है साधनमें आस्था बढ़ानेके लिए। 'साधन करके ये महान् हुए हैं, तो हम भी साधन करके महान् हो जायेंगे'—इस प्रकार साधनके प्रति आस्था उत्पन्न करनेके लिए ऋषिपूजा है।

साधनाके मार्गमें कायदेसे नहीं चलोगे, तो भटक जाओगे। साधना-साध्यके अपरोक्षमें दृढ़ता लानेके लिए है। देखो, साधनासे तालूके मूलमें

लोकान्तरका दर्शन होता है। नासिकामें गन्धकी संवित् होती है। नेत्रमें तरह-तरहके रूप दिखायी पड़ते हैं। हृदयाकाशमें 'विशोका'=ज्योतिष्मतीका साक्षात्कार होता है। यह साधन पर आस्था दृढ़ करनेके लिए है।

साक्षी–

अब देखो, आपको ग्रहण हो, चाहे न हो, हम तो आज कह देते हैं। यह जो तीन अवस्थाका साक्षी है—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और पंचकोशका साक्षी—इसका यदि विवेक करोगे तो आपका विचार सूक्ष्म होगा।

विवेकका क्रम–

पहले जाग्रत् अवस्थाके आलम्बनसे, फिर स्वप्नावस्थाके आलम्बनसे, फिर सुषुप्ति-अवस्थाके आलम्बनसे सीढ़ी-दर-सीढ़ी विचार अन्तर्मुख होता जायगा। नहीं तो व्याख्यानमें सुन आओगे और घरमें आकर भूल जाओगे।

पंचकोश पर विचार करो। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय और साक्षी। आप साक्षी बनकर बैठो।

अब जो असली बात है, वह सुनाता हूँ। साक्षीकी लम्बाई-चौड़ाई साक्षीको भास सकती है कि नहीं? आप बताओ! साक्षी कबसे है और कबतक रहेगा, यह आपके साक्षीको भास सकता है कि नहीं? आप बताओ।

साक्षीकी लम्बाई-चौड़ाई साक्षीको नहीं भास सकती। अर्थात् उसका परिमाण—दिक् चक्रका साक्षी कितना बड़ा है, यह आपको भास नहीं सकता।

कालचक्रका साक्षी कितनी आयुवाला है, यह आपको भास नहीं सकता। और, द्रव्यचक्रका साक्षी क्या है, यह आपको भास नहीं सकता।

सर्वाधिष्ठान साक्षी—ब्रह्म सर्वाधिष्ठान है, उसी प्रकार कालका साक्षी कालका अधिष्ठान है। देशका साक्षी देशका अधिष्ठान है। द्रव्यका साक्षी द्रव्यका अधिष्ठान है। माने साक्षी ब्रह्म है। अर्थात् उसमें देश-काल-वस्तु बिना हुए भास रहे हैं। यह बात आकर वेदान्तीसे सीखो!

'नहीं महाराज! बीमारी होती है तो सब द्रष्टापना भूल जाता है। रोग आता है तो सब द्रष्टापना भूल जाता है।'

ईश्वर नियमन करता है दृश्यका। जब तक दृश्यके साथ सम्बन्ध रहेगा, तुम्हारा भी नियन्त्रण हो जायगा। जैसे, तुम एक रस्सी पकड़ लो, छोड़ो मत। दूसरे एक आदमीने वही रस्सी दूसरे सिरे पर पकड़ी, और खींचना शुरू किया, तो वह तुमको घसीटकर ले जायगा कि नहीं?

अतः ईश्वर द्रष्टाका नियन्ता नहीं है। ईश्वर दृश्यको नियमनके द्वारा तत्सम्बन्धी द्रष्टाका नियन्ता है।

ईश्वर और आत्माकी अभिन्नता—वेदान्त यह काम यों करता है, कि दृश्यके नियन्ता ईश्वर अपनेसे अभिन्न कर देता है। माने परोक्षविधया ईश्वर नहीं है। अपरोक्षविधया ईश्वर है।

देश-काल-वस्तुका नियन्ता ईश्वर हमारा आत्मा है। देश-काल-वस्तुसे वह परिच्छिन्न नहीं है। और दृश्य अपनेसे भिन्न नहीं है। लो अमृत!

अभय—दृश्यमें जो हित-अहित, सुख-दुःख देते हैं, कर्तव्यता-अकर्तव्यता, धर्माधर्म सुख-दुःख देते हैं। जब सब अपनेसे अभिन्न हो गया, जब ईश्वर अपनेसे अभिन्न हो गया, तो अदृष्ट दुःखका भय गया और दृश्य अपनेसे अभिन्न हो गया। तब दृष्ट दुःखका भय गया। सब अपना आपा—

अभयं ह वै ब्रह्म।

अभयं ह वै जनक प्राप्तोसि।

यह वेदान्तकी घोषणा है। तुमको द्रष्टादृष्ट विविध भयकी निवृत्ति हो गयी। सारे शोक-भय-दुःखकी निवृत्ति हो गयी।

ज्ञात्वा देवं हर्षशोकौ जहाति।

अमृत—यह अमृत तुम्हारे पास है। इसमें परोक्ष और प्रत्यक्षका जहर मत घोलो। यह शुद्ध ज्ञानस्वरूप है।

निर्विषय मनका नाम आत्मा है और सविषय ज्ञानका नाम मन है। और, वही जो मन आत्मा है, वह आत्मा वेदान्तोक्त रीतिसे ब्रह्म है। इसलिए यह अमृत है।

वस्तुतः वह अमृत है इसलिए ब्रह्म है। यह सबमें रस डाल सकता है, इसलिए भी अमृत है। यह आत्मरूपसे होनेके कारण कभी मरता नहीं, इसलिए भी अमृत है।

यज्ञमें सप्तहोता–

येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

'अग्निष्टोम यज्ञ' जिस समय होता है, उसमें आहुति देनेवाले सात होता होते हैं। इसलिए 'सप्त होता यज्ञ' 'अग्निष्टोम यज्ञ' होता है।

आप जरा अपने ही मुखकी तरफ ध्यान दीजिये वहाँ भी सात होता हैं—ज्ञानेन्द्रियाँ।

ज्ञानाग्निमें आहुति—मुखमें दो होता अगल-बगलमें बैठे हैं। ये आत्माकी अग्निमें शब्दाहुति देते हैं। दो होता आगे बैठे हुए हैं। ये रूपाहुति देते हैं ज्ञानाग्निमें। दो नाक बैठी हैं। ये गन्धाहुतिका दान करते हैं ज्ञानाग्निमें। और, एक रसना बैठी है यह रसाहुतिका दान करती है ज्ञानाग्निमें।

अग्नि कहाँ है? भीतर है। यज्ञ हो रहा है, देखो।

प्रत्येक कर्म यज्ञ है—लोग शरमाते हैं। उपनिषद्में बिना किसी शरमके यह बात लिखी हुई है कि—'गृहस्थधर्ममें जो पति-पत्नीका संयोग है, वह यज्ञ है।' 'छान्दोग्योपनिषद्'में यह बताया हुआ है, आप पढ़ना। उसको 'पंचमाहुति' बोलते हैं। यह भी बताया हुआ है कि—वहाँ कुण्ड क्या है, अग्नि क्या है, धुआँ क्या है, स्रुवा क्या है, वीर्यकी आहुति क्या है।

घरमें तो सब लोग करते हैं, परन्तु जानते तो नहीं हैं! शास्त्रोक्त रीतिसे करने पर पति-पत्नीके संयोगसे यज्ञरूप धर्मकी उत्पत्ति हो जाती है। प्रत्येक कर्ममें विधिका संयोग होते ही वह धर्म हो जाता है। पति-पत्नीका संयोग भी जहाँ यज्ञ हो जाता है, उस धर्मकी व्यापकता पर तो जरा विचार करो! पति-पत्नीका संयोग होनेसे स्वर्ग प्राप्तिका साधन होता है।

इतना विशाल दृष्टिकोण जिस धर्मका है, नासमझीसे लोग उसका तिरस्कार करते हैं। जहाँ मूत्रपूरीषोत्सर्ग भी धर्म होता है! इतना बढ़िया धर्म!! इतना बढ़िया धर्म!!!

अमृतकी उपलब्धि—ये सातों विषय—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

गीता ४.२६

यह भी हवन है। शब्दाहुति, रूपाहुति, गन्धाहुति, रसाहुति। यह मन जब होता है, मनसे देखो—'यह हो रहा है।' तुम्हारे भीतर जो ज्ञानाग्नि-कुण्ड है, उसमें ये इन्द्रियोंके 'होता' हवन कर रहे हैं। अमृत हो जाय। आपका जीवन अमृत हो जाय। इसलिए मन अमृत है।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

मेरा यह मन 'शिवसंकल्प' होवे।

सिंहावलोकन

(मन्त्र-१ से ४)

अब आओ, एक बार सिंहावलोकन कर लें। सिंहावलोकन=लौटकर देख लेना। सिंह चलता है न, तो चलते-चलते पीछे देख लेता है। यह 'सिंहावलोकन-न्याय' है।

मन आत्माश्रित है–

अब तक मनके बारेमें चार मन्त्रोंमें यह बात कही गयी, कि मन उदय होता है और विलय होता है—'उदैति' और 'अस्तमेति'। उतराता है डुबाता है। यह मन है। यह आत्मा नहीं है, यह आत्माश्रित है।

मन आत्मसाक्षिक है–

आत्मसाक्षिक है-मनका साक्षी आत्मा है। यह मन अपनेमें ही उदय होता है और विलय होता है और अपनेको ही मालूम भी पड़ता है। इसलिए मन आत्माश्रित और आत्मसाक्षिक है।

मनका स्वभाव–

उदय और विलय होना उसका स्वभाव है। उदैति समीपे च अन्तिके च अस्तमेति। दूर जाना और लौट आना, यह भी इसीका स्वभाव है। यह देशव्यापी है।

इन्द्रियोंका स्वभाव–

इन्द्रियोंका स्वभाव है, केवल प्रत्यक्षमात्रको अनुभव करना। आँख सामने देखती है, कान बोले हुएको सुनता है। यदि आपको मालूम पड़े कि हम पाँच मील दूरकी बात देख रहे हैं, तो समझना कि आपकी आँख नहीं देख रही है, मन देख रहा है।

संस्कार–

यदि कोई मरा हुआ आपकी आँखके सामने आवे, तो आप भूलके भी मत समझना कि आँख देख रही है। वह आपका मन ही देख रहा है। मनमें जो मरे हुएका संस्कार है, उस संस्कारसे देख रहा है।

इन्द्रियाँ केवल प्रत्यक्षके विषयको देखती हैं, मन भूतको भी देखता है—स्मृतिके रूपमें। मन भविष्यको भी देखता है— कल्पनाके रूपमें। वह वर्तमानको अपना-पराया करके भेदभाव बनाकर देखता है। यह बात मनके बारेमें है।

मनका धर्म–

'यह उत्तम है, यह कनिष्ठ है'—यह बात इन्द्रियाँ नहीं देखती हैं, मन देखता है। यह हमारा प्रिय फूल है और यह अप्रिय फूल है—इस प्रियता-अप्रियताको मन देखता है। फूलको तो आँख देखती है, प्रियता-अप्रियताको नहीं।

नाकमें गन्ध जाती है। विष्ठाकी भी गन्ध जाय और इत्रका भी गन्ध जाय। परन्तु भंगीको जो गन्ध बुरी नहीं लगती है, वह गन्ध तुमको बुरी लगती है।

एक दिन एक महात्मा गये जूता बनवानेके लिए चमारके घर। बड़ी दुर्गन्ध आयी, तो बोले—'हैं! यह चाम बड़ी दुर्गन्धित वस्तु है! अरे भाई! तेरे घरमें दुर्गन्ध फैली है।'

मोचीने कहा—'महाराज! थोड़े दिन आप हमारे साथ बैठिये।'

मौजी महात्मा थे। जाकर बैठने लगे, थोड़े दिनोंके बाद उनको यह ख्याल ही नहीं रहा, कि दुर्गन्ध होती है वहाँ। विषकीड़ा विष खाता है। गोबरके कीड़ेको गोबर ही अच्छा लगता है। कहनेका मतलब है कि अच्छाई-बुराई मनका धर्म है। यह न वस्तुका धर्म है, न आत्माका धर्म है। इसलिए राग-द्वेष भी न वस्तुका धर्म है, न आत्माका धर्म है। यह मनका खेल है।

व्यवहित, उत्कृष्ट-निकृष्ट, भूत-भविष्य-वर्तमान, सब मनसे मालूम पड़ता है। 'यह हमारी माँ है'—यह प्रत्यक्ष भले नहीं देखा जाता; और, 'यह हमारा बाप है'—यह भी प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता। यह भी मनसे ही मालूम पड़ता है! क्योंकि व्यवहित है।

श्रद्धा–

'यह हमारा बाप है'—अगर यह किसीको प्रत्यक्ष हुआ हो! श्रद्धाका खण्डन करनेवालोंको इस बातका ध्यान रखना चाहिए। यदि माँ-की बात पर श्रद्धा नहीं करोगे, तो तुम्हारे बापका पता ही नहीं लग सकता।

श्रुति पर विश्वास नहीं करोगे, तो परमेश्वरका पता लगना मुश्किल है। श्रुति माता है। तुम नहीं चाहते हो परमेश्वरको। तुम्हारी यह स्थिति हम कबूल करते हैं। लेकिन, अगर तुम चाहते हो, तो फिर माँ-की बात मानकर जैसे बापका निश्चय होता है, वैसे पहले श्रद्धासे बाप माना जायगा और, उसके बाद तो सब चीज मिल जायगी। अपरोक्ष हो जायगा।

अच्छा, पहले श्लोकमें यह बात आयी कि सबको, 'दूरंगमं' = भूत - भविष्य-वर्तमान- व्यवहित सबको मन ही जानता है।

अनेक इन्द्रियोंमें एक मन–

फिर यह बात कही गयी कि इन्द्रियाँ अनेक हैं, और मन एक है। सब इन्द्रियोंमें आकर वह मन ही जानता है और वह एक है। शरीरके साथ इन्द्रियगोलक मर जाते हैं, परन्तु मन नहीं मरता है।

मनसे ही कर्म होते हैं। मनसे ही बुद्धिमें युक्तिका उदय होता है और मनसे ही सहनशक्ति आती है।

अपूर्व यक्ष–

मन अपूर्व यक्ष है, अर्थात् अनिर्वचनीय है। 'अपूर्व यक्ष'का अर्थ वेदान्तकी भाषामें है, 'अनिर्वचनीय' और वह सबके भीतर रहता है।

ज्ञानके दो प्रकार–

ज्ञान दो तरहका होता है—

(१) शब्द-प्रमाणसे ही जिसका ज्ञान होता है, ऐसा! और,

(२) इन्द्रियोंसे जिनका ज्ञान होता है।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च।
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।

विशेषज्ञान और सामान्य ज्ञान।

ज्ञान, योग, उपासना और धर्म—ये चारों साधन मनसे ही होते हैं।

जीवन-निर्माणमें वेदान्तका महत्त्व–

एकने कहा—'गुरु भाई!'

'हाँ गुरु भाई!'

'ज्ञान हो गया कि नहीं?'

बोले—'जिसको अज्ञान हुआ हो, उसको पूछो, बाबा! हमको मत पूछो। हम यह बतानेके जिम्मेवार नहीं हैं।'

बोले कि—'गुरु भाई! कभी-कभी वृत्ति टिकती नहीं है।'

बोले कि—'हट्! देहाभिमानी कहींका! यह स्मरण-विस्मरण अन्तःकरणमें होता है। उसको तू मैं-मेरा मानकर प्रश्न कर रहा है? भाग यहाँसे!'..... 'स्मरण-विस्मरण अन्तःकरणमें होता है।' वृत्ति टिके कि न टिके! अरे, ब्रह्म है, तू ब्रह्म! एक अन्तःकरणसे तेरा क्या होता है? जैसे मच्छरका अन्तःकरण है, वैसे तेरा अन्तःकरण है।

तत्त्वविचार–

वेदान्ती लोग जीवन-निर्माण जो चाहते हैं न! तत्त्वको समझनेके लिए सूक्ष्म दृष्टि होना दूसरी चीज है, और जीवन-निर्माणकी दृष्टि होना दूसरी चीज है। अब हम आपको एक खुली बात सुनाते हैं।

एक दिन मैं मोकलपुरके बाबासे कहा कि—'महाराज! मन बड़ा चंचल रहता है। इसमें दोष क्या है?'

बोले—'अच्छा, तुम यह बताओ, कि एक चोरका मन चंचल होता है और उसमें दोष आता है। उसके लिए तुमको चिन्ता क्यों नहीं होती? वह भी तो सृष्टिमें एक व्यक्ति है! उसके भी मन है। उसमें दोष आता है। तुमको उसके लिए दुःख क्यों नहीं होता? अब तुम यह बताओ!'

हम बतानेके लिए एकान्तमें गये। जाकर बैठ गये। इस पर विचार किया कि—'चोरके शरीरको, चोरके मनको 'मैं-मेरा' नहीं मानता। इसलिए उसके लिए चिन्ता नहीं होती। इस शरीरको, इस शरीरमें रहनेवाले मनको, उसकी चंचलताको, उसके मोहको, उसके रागको, उसके द्वेषको 'मैं-मेरा' समझता हूँ, इसलिए चिन्ता रहती है।'

आप लोग डरना मत। तत्त्वविचार दूसरा है और जीवन्मुक्तिका विचार दूसरा है।

जीवन्मुक्ति–

विचारके स्तर होते हैं। अद्वितीय तत्त्वके स्तर पर जो विचार है, हमारे वेदके मन्त्र हैं, उपनिषद् भगवती हमारी श्रुति है, वह इस बातका प्रतिपादन करती है। वह मैं आपको सुना रहा हूँ।

संसारके किसी भी ऐन्द्रिय प्रमाणसे, या यौक्तिक प्रमाणसे, या साक्षीभास्य अवस्थाके द्वारा जिसका बोध नहीं होता है, उस अखण्ड तत्त्वका, अद्वितीय तत्त्वका बोध करानेके लिए उसमें केवल अन्तःकरणका 'मैं-मेरा' ही निवृत्त नहीं होता, अन्तःकरणका अस्तित्व ही निवृत्त हो जाता है। और, सारा-का-सारा काम होता रहता है। शरीर चलेगा, खायेगा-पियेगा, मन सोचेगा, हँसेगा-रोवेगा। ऐसा विलक्षण! जीवन्मुक्तिका यह विलक्षण सुख ऐसा है।

यह बात बतायी गयी कि जितने कर्म होते हैं, वे बिना मनके नहीं होते। अतः ज्ञान, योग, उपासना, धर्म सब मनसे ही होते हैं। मन सबके

भीतर होता है और मनके बिना कोई काम नहीं होता। समूचा देश मनका विस्तार है। समूचा काल मनका विस्तार है।

मन-सम्पूर्ण ज्ञानका आश्रय–

चौथे मन्त्रमें यह बात कही गयी—

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।

सम्पूर्ण ऐन्द्रियक ज्ञान और बौद्ध ज्ञानका आश्रय मन है। शरीरके मरने पर भी यह नहीं मरता है। बिना आत्मज्ञानके यह बाधित नहीं होता है। भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमानकालको इस अमृतने पकड़ रखा है। अरे! कालका अस्तित्व भी मनसे मालूम पड़ता है। इसीसे यह सप्तहोता यज्ञ– 'अग्निष्टोम' आदि यज्ञ बाहर भी होता है और भीतर भी होता है। सात इन्द्रियोंके द्वारा भीतर हवन किया जाता है।

आप लोगोंने 'गीता' पढ़ी है, परन्तु यदि आपका ध्यान न गया हो, तो मैं दिलाता हूँ—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

गीता ४-२६

इसका मतलब हुआ—'सुनना यज्ञ है। छूना यज्ञ है। देखना यज्ञ है। सूँघना यज्ञ है। खाना यज्ञ है। करना यज्ञ है। चलना यज्ञ है। हमारा जीवन यज्ञ है।'

यज्ञोंका विस्तार–

एक यज्ञ है—'**शब्दादीन्.....जुह्वति**' और दूसरा यज्ञ है—'**संयमाग्निषु जुह्वति।**' एक यज्ञ है, कि हम खाते हैं, जठराग्निमें हवन करते हैं—'प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा', आदि। माने, हमारा प्रत्येक ग्रास अग्निहोत्र है। जैसे गृहस्थ लोग अग्निकुण्ड रखकर उसमें 'इन्द्राय स्वाहा' करते हैं, वैसे हम भीतर जठराग्निमें जो खाया हुआ पचता है, उसमें होम करते हैं।

'**संयमाग्निषु**' दूसरी चीज है। वह तो आप उन यज्ञोंके विस्तार पर ध्यान देंगे, तब मालूम पड़ेगा।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान् एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

गीता ४-३२

येन यज्ञस्तायते सप्तहोता।

मनुष्यका यह शरीर जब चितामें जलाया जाता है, तब यज्ञ होता है। 'छान्दोग्योपनिषद्'में यह बात लिखी हुई है।

लोग कहते हैं कि 'वेद' गडरियोंका गीत है! वेदमें लिखा है कि मनुष्यके शरीरमें जब बुखार आता है, तब तापमें जो शरीरकी धातुएँ तप्त होती हैं, वह यज्ञ होता है।

'छान्दोग्योपनिषद्'में 'पंचमाहुति' प्रकरणमें लिखा हुआ है—'पति-पत्नीका समागम यज्ञ है।' यह मन ही यज्ञ करता है। अर्थात् जब हमारे मनमें यज्ञका भाव उदय होता है, तब हमारी प्रत्येक क्रिया यज्ञरूप हो जाती है।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

कुछ ऐसे ज्ञान हैं, जिनको हम इन्द्रियोंके द्वारा या मनके द्वारा नहीं जान सकते। वे ज्ञान कहाँ है? कैसे हैं? श्रवण कीजिये।

✤

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ ५॥

मन-वेदोंका संग्रहालय–

'ऋग्वेद'का जितना ज्ञान है, वह कहाँ है? मनमें। यह गडरियेने कहा होगा? शरम नहीं बोलनेवालोंको! अक्कल नहीं बोलनेवालोंको।

'यजुर्वेद'का ज्ञान कहाँ है? बोले—'मन'में 'सामवेद'का ज्ञान कहाँ है? मनमें। 'तत्त्वमसि' सामवेदका महावाक्य है। 'अहं ब्रह्मास्मि' 'यजुर्वेद'का महावाक्य है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'ऋग्वेद'का महावाक्य है। 'अयमात्मा ब्रह्म' 'अथर्ववेद'का महावाक्य है।

ये कहाँ रहते हैं? बोले-'ये चारों मनमें पैदा होते हैं।'

यदि हम कहें कि 'यह प्रबुद्धानन्द' है, तो यह विश्वास पैदा कराना हुआ। माने, हमने वाक्य बोल करके यह बताया कि—'इसका नाम 'प्रबुद्धानन्द' है।' या—'इसका नाम लाउडस्पीकर है', या—'इसका नाम पुस्तक है।'

प्रत्यक्ष विद्यमान वस्तुको यदि मैंने वाक्य बोल करके समझाया, तो क्या वह परोक्ष ज्ञान हो गया? वह विश्वास हो गया?

अरे बाबा! जब वस्तुका साक्षात् अपरोक्ष हो रहा है, तो विश्वासकी क्या बात है? वस्तु जहाँ अपरोक्ष होती है, तो वाक्यसे, शब्दसे वस्तुका अपरोक्ष ज्ञान होता है।

मनमें वेदोंकी प्रतिष्ठा–

यह 'ऋग्वेद', यह 'यजुर्वेद', यह 'सामवेद', यह 'अथर्ववेद' हैं—'दशमस्त्वमसि'।

यद् ब्रह्म त्वया मृग्यते दशमस्त्वमसि।

जिस ब्रह्मका तू अनुसन्धान कर रहा है, कैसा होगा वह? वह है सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिष्ठाता। बोलते हैं—

मुझको तू क्या ढूँढे बंदे? मैं तो तेरे पासमें!
मैं न खुदा न बंदा था, मुझे मालूम न था।
दोनों इल्लत से मैं जुदा था, मुझे मालूम न था।

'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद', 'सामवेद' और 'अथर्ववेद' ये मनरूप 'अथर्ववेद'में सारे-के-सारे प्रतिष्ठित थे। कैसे प्रतिष्ठित थे? **रसना-भाविवाराः।**

भगवान्के हाथका चक्र भगवान्की उँगलीमें प्रतिष्ठित रहता है। उस चक्रमें नाभि है, उस नाभिमें भगवान् अपनी उँगली डालकर घुमाते रहते हैं।

मोटरके दोनों पहियोंको जोड़ करके धुर्रा जिस छिद्रमें प्रविष्ट होकर दोनों पहियोंको एक साथ चलाता है। उस छिद्रको बोलते हैं—'नाभि'। जैसे पेटमें 'नाभि' होती है, वैसे पहियोंके बीचमें 'नाभि' है। उसमें आड़े-आड़े अरे होते हैं, इसीसे चक्रको भी 'अरि' बोलते हैं—*अरा सन्ति यस्मिन्।* यह 'इत्त' प्रयोग है, विसर्गान्त प्रयोग नहीं है।

अज्ञान—

जितने प्रकारके ज्ञान हैं, वे सब कहाँ रहते हैं? जैसे रथकी नाभिमें अरे रहते हैं, वैसे सम्पूर्ण विश्वकी नाभि यह मन है। इस मनमें ही ये सारे ज्ञान रहते हैं।

यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम्।

विपर्यय—मन विपरीत ज्ञानको जो निवृत्त करते हैं, वे साधक ज्ञान होते हैं और मनमें जो विपर्ययकी प्रतिष्ठा करते हैं, वे अज्ञान होते हैं।

देखो, आपने बिलकुल बिना जाने, बिना समझे, बिना बूझे अपनेको परिच्छिन्न मान रखा है। देहके रूपमें अपनेको परिच्छिन्न माना, सूक्ष्म शरीरके रूपमें अपनेको परिच्छिन्न माना, कारण शरीरके रूपमें अपनेको परिच्छिन्न माना। अपनेको ईश्वरसे अलग माना, अपनेको जगत्से अलग माना, अपनेको कर्ता माना, भोक्ता माना, द्रष्टा माना; परन्तु अनेक माना, अलग-अलग माना। संसारसे अलग माना। ईश्वरसे अलग माना, तो ईश्वर तुम्हारे सिरपर सवार होकर तुम्हारा गला घोंटेगा। जगत्से अपनेको अलग माना, तो वह बारम्बार कहेगा कि—'अपनी वृत्ति रखो। तुम असंग हो, तो असंग रहो, नहीं मर जाओगे!'

आत्मसत्ता—

अद्वैत-वेदान्तने कहा—'यह जो (ईश्वर और जगत्) बोल रहा है, वह भी तुम्हीं हो। ईश्वर भी तुम्हीं हो, अज्ञान भी तुम्हीं हो, परोक्ष-ईश्वर भी तुम्हीं हो और प्रत्यक्ष प्रपंच भी तुम्हीं हो।'

परोक्ष ईश्वर और प्रत्यक्ष प्रपंच दोनों जिस अपरोक्ष आत्मसत्तासे प्रकाशित होते हैं, वह अद्वितीय है। माने प्रत्यक्ष और परोक्षकी उसमें सत्ता ही नहीं है।

भेदज्ञान—

सम्पूर्ण प्राणियोंका चित्त ज्ञानका ढेर है। चित्-**चित्-चित्=चित्त-चेतति। घटश्चेतति, पटश्चेतति।** 'चेतति' अकर्मक क्रिया है। **चेतति-चेतति-चेतति= चित्तम्। अचेतम् इति चित्तम्।**

इस चित्तमें भिन्न-भिन्न प्रकारके ज्ञान हैं—भेदज्ञान। भेदज्ञानका नाम चित्त है। वह कहाँ रहता है? मनमें रहता है। आपको मालूम है कि नहीं? आप अपना दुःख आलेमें रखकर आते हैं कभी? आप अपना सुख कहीं तिजोरीमें रखे हुए हैं? विषय तिजोरीमें रखा हुआ है, सुख नहीं। सुखकी अज्ञात-सत्ता नहीं होती।

इसी प्रकार भेदकी भी अज्ञात सत्ता नहीं होती। यह नियम लिखो! जैसे सुख परोक्ष नहीं होता, जैसे दुःख परोक्ष नहीं होता, वैसे भेद भी कभी परोक्ष नहीं होता। भेदकी अज्ञात सत्ता होती ही नहीं। यह भेद ज्ञानके द्वारा प्रकाशित है। तो यह चित्त कहाँ है? ये तरह-तरहके ज्ञान कहाँ हैं? मनमें हैं।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

✤

मन्त्र ६

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं यविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ ६॥

ज्ञान–

विषय ज्ञान—मेरा मन-मनन। *मननात् मनन। मन् ऋ अवबोधने।*

प्रतिबोधविदितं मतम्।

चीज-ज्ञान अलग-अलग होते हैं। देखो, यह हुआ निमंत्रण-पत्रका ज्ञान। इस पर गणेश बने हुए हैं। यह हुआ यजुर्वेदका ज्ञान। सामने **'यजुर्वेद'**की पुस्तक रखी हुई है। यह हुआ लाउडस्पीकर (ध्वनिविस्तारक यन्त्र)का ज्ञान।

लाउडस्पीकर अलग है, यह निमन्त्रण-पत्र अलग है। यह यजुर्वेदकी पुस्तक अलग है। इससे इनका ज्ञान भी अलग-अलग मालूम पड़ता है। इन विषयोंसे अलग करके ज्ञानको देखो।

ज्ञानका प्रकाश–

देखो, इस निमंत्रण-पत्र पर पीला और लाल रंग है। यह किस रोशनीमें दिख रहा है? और, किस आँखसे दिख रहा है? 'यजुर्वेद'की पुस्तक है—इस पोथीके पन्ने सफेद हैं और काले अक्षर हैं। यह किस रोशनीमें दिख रहा है? यह लाउडस्पीकर किस रोशनीमें दिख रहा है?

देखो, रोशनी एक है, परन्तु यह रंग-रूप अलग-अलग दिख रहा है। इसी प्रकार ज्ञान एक होता है। जिस प्रकार रोशनी अपने विषयानुसार रंगमें प्रगट होती है, उसी प्रकार यह ज्ञान भी अपने विषयानुसार रंगमें भासता है।

परन्तु ज्ञान ज्ञान ही है। विषयके अनेक होनेसे ज्ञान अनेक नहीं हैं। विषयके पैदा होने और मरनेसे ज्ञान पैदा होता और मरता नहीं है। विषयके सत्य-मिथ्या होनेसे ज्ञान सत्य-मिथ्या नहीं होता है।

अखण्ड ज्ञान—समाधि और विक्षेप होनेसे ज्ञानमें समाधि और विक्षेप नहीं होता है। विषयके दूर निकट होनेसे ज्ञान दूर-निकट नहीं होता है। विषयके भूत-भविष्यमें होनेसे ज्ञान भूत-भविष्यमें नहीं होता है। ज्ञान बिलकुल एक रस! विषयके छोटा-बड़ा होनेसे ज्ञान छोटा-बड़ा नहीं होता है। ज्ञान बिलकुल अखण्ड।

मन-सारथि—यह देखो मन! मन क्या है? जैसे यह शरीर है रथ और उसमें एक अच्छा-सा सारथि बैठा हुआ हो।

सुषारथिः अश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयते।

'मनुष्य' शब्दका अर्थ है 'प्राणी'। जो जन्तुमात्रके, प्राणीमात्रके शरीरको चलाता है, वह है मन। चींटीको भी जब छूते हो हाथसे, तो वह भागती है। कौन भगाता है उसको? उसका मन भगाता है। मनमें भय होता है और चींटी भागती है।

जैसे एक अच्छा सारथि अपने घोड़ोंको आगे बढ़ाता है, इसीप्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंका नयन मन करता है।

क्रिया समविहारेण नयन इति नेनीयते।

क्रिया समविहार=बारम्बार, बारम्बार, बारम्बार। यह मन ही अच्छे सारथिके समान सबको आगे बढ़ाता है।

अभीशुभिः वाजिन इव।

दो बात—लगाम (प्रग्रह)को हाथमें रख करके जैसे घोड़ोंको वह

नियन्त्रित करता है, और आगे भी ले जाता है, घोड़ोंका सुसंचालन भी करता है; वैसे यह मनुष्यका सुसंचालन करता है। नयन करना=शरीरको, इन्द्रियोंको आगे बढ़ाना और उनको कायदेमें रखना। मन ही मनुष्यके शरीरको उसी प्रकार काबूमें रखता है, जैसे सारथि घोड़ोंको काबूमें रखता है।

अच्छा इसका घर कहाँ है?

मनका निवासस्थान–

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं यविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

यह मन हृत्में प्रतिष्ठित है। **हृत्**=आत्मा। **हृदाख्यः। हरतीति हृत्=हरः** सबके उपसंहारके स्थानका नाम है '**हृत्**'। मन हृदयमें रहता है।

न्यायके मतमें मन अणु है। पूर्वमीमांसकोंमें 'कुमारिल भट्ट' और 'प्रभाकर गुरु'—दोनोंके मतमें भेद है। एक मानते हैं कि—'मन विभु है' और एक मानते हैं कि—'मन अणु है।' दोनों मीमांसाके अनुयायी हैं।

परन्तु जो वेदान्ती हैं, वे मानते हैं कि मन माने अन्तःकरण मध्यम परिमाण है। अर्थात् नाखूनसे ले करके सिर तक शरीरमें मन सर्वत्र व्याप्त है। जब लोग पूछते हैं कि—हे महाराज! मन कहाँ रहता है शरीरमें? तो वेदान्तकी रीतिसे उसका उत्तर है कि मन समूचे शरीरमें रहता है।

न्यायदर्शनकी रीतिसे उसका उत्तर है कि—मन अणु-परिमाण है, परन्तु टेलिफोन उसके साथ जुड़े हुए हैं शरीरमें। पाँवको छुओ, तब भी मनको मालूम पड़ता है।

वैसे महात्मा लोग कहा करते थे कि—'अन्तःकरण ही मन है।'

अत्यन्त सूक्ष्मतम मनःशक्ति–

अब देखो, आपको कभी डर लगता है कि नहीं? डर लगता है तो धड़कन बढ़ जाती है और चिन्ता होती है तो सिरमें दर्द होने लगता है। चिन्तासे सिरमें दर्द होता है और भयकी अधिकतासे धड़कन बढ़ती है।

जो चीज सारे शरीरमें रहती है, वही भयकी दशामें हृदयमें क्रियाशील हो जाती है और चिन्ताकी दशामें सिरमें क्रियाशील हो जाती है। है वह सारे शरीरमें।

'**हृत् प्रतिष्ठितं**'का अर्थ है, यह शरीर जो हड्डी-मांस-चामका बना हुआ है, उसमें रक्त है। और, रक्तमें वीर्यका कोई केन्द्र नहीं है। कामादि उत्तेजना होने पर मन्थन होकर वीर्य निकलता है। वीर्य सारे रक्तमें व्यापक है। तो सारे रक्तमें जैसे वीर्य व्यापक है, सारे शरीरमें जैसे प्राणशक्ति व्यापक है, वैसे सारे शरीरमें मनःशक्ति भी व्यापक है।

हृदयका अर्थ यह हुआ कि अत्यन्त सूक्ष्मतम दशामें यह मन रहता है। इसी कारण ध्यानके केन्द्र अनेक हैं।

ध्यानके केन्द्र—यह ध्यान मूलाधारमें भी होता है, स्वाधिष्ठानमें भी होता है और मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्र, सहस्रार, शून्यशिखर सबमें होता है और सबको छोड़ करके भी होता है। इसीलिए ध्यान अनेक प्रकारसे होता है।

जो लोग एक ध्यान छुड़ा करके दूसरा ध्यान करवाते हैं, वे मनके रहस्यको नहीं जानते हैं।

ध्यानमें निष्ठाका महत्त्व—जो भी ध्यान तुम करते हो, उसीमें निष्ठावान् हो जाओगे, तो तुम्हारा मन एकाग्र हो जायगा। कालकी प्रधानतासे ध्यान होता है और देशकी प्रधानता, विषयकी प्रधानता, अविषयकी प्रधानता, अपने इष्टकी प्रधानता, शान्तिकी प्रधानता, 'तत्' पदार्थ-की प्रधानता, 'त्वं'पदार्थकी प्रधानता, एकताकी प्रधानता किसी भी एककी प्रधानतासे ध्यान होता है। इसमें जो गड़बड़ पैदा करते हैं, वे सिर्फ चेला बनानेके लिए गड़बड़ पैदा करते हैं। उसका और कोई प्रयोजन नहीं है।

ध्यानमें मूर्ति कृष्णकी रहे या शिवकी रहे, उससे ध्यानमें क्या फरक पड़ सकता है? मनमें बनाया हुआ आकार और उस आकारमें यदि व्यक्ति थोड़ी देर स्थिर हो जाय तो मनमें शान्ति आ जायगी कि नहीं? विक्षेप निवृत्त हो जायगा। शिवलिंगमें ध्यानस्थ हो जायेंगे तो शिवलिंगमें शान्ति आ जायगी कि नहीं? शालिग्रामकी शिलामें विक्षेपकी निवृत्ति हो जायगी कि नहीं? कृष्णकी मूर्तिमें ध्यानस्थ हो जायेंगे तो क्या विक्षेपकी निवृत्ति नहीं होगी?

जितने गड़बड़ पैदा करनेवाले लोग हैं, वे केवल दूसरेके चेलेको फोड़ करके अपना चेला बनाना चाहते हैं। उसका और कोई रहस्य नहीं है।

सम्प्रदायकी संख्या बढ़ानेके लिए जैसे वोट (मत) लेनेवाले दूसरेका वोट (मत) तोड़ते हैं, वैसे ये पंथाई लोग दूसरेके पंथको तोड़ते हैं और कोई उद्देश्य नहीं है।

मनकी पहचान–

हृत्प्रतिष्ठितं यदजिरं यविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

अजिरं=मन कभी जीर्ण नहीं होता है। शरीर जीर्ण हो जाता है, परन्तु मन कभी बुड्ढा नहीं होता। मन हमेशा जवान रहता है। **अजिरं, अजरम्।**

यविष्ठं=उसकी भागनेकी गति। जैसे बुड्ढा आदमी दौड़नेमें शिथिल पड़ जायगा कि नहीं? जवानीमें एक फर्लांग-दो-फर्लांग दौड़के चले जाते थे। गाड़ी पकड़नी होती और वह छूट जायगी ऐसा विचार होता तो वह घोड़ेकी तरह दुल्की चाल चलकर स्टेशन पर पहुँचते थे! घोड़ोंकी भी चाल होती है।

अब दस कदम अगर दौड़ना पड़े, तो हाँफ जाते हैं। शरीर बुड्ढा हो गया, लेकिन कहो कि मन बुड्ढा हो गया? उसकी गतिमें कमी नहीं। वह तो! क्षणभरमें रूस-अमेरिका, वैकुण्ठ-गोलोक-साकेत बनाके, उसमें घुसके, उसमें घूमकर, उसका मजा लेकर फिर जहाँका तहाँ लौट आता है।

गोलोक-साकेत बना लेते हैं, बैकुण्ठ बना लेते हैं, उसमें राधा-कृष्णको मिला लेते हैं और जब दोनों आलिंगन परस्पर कर लेते हैं तो हम कहते हैं—'जय हो, जय हो, जय हो!' दोनोंको मिलाकर फिर लौट आते हैं अपनी जगह पर। **यविष्ठं** माने बड़ा वेगवान् है यह मन!

अद्वितीय ब्रह्मात्मैक्यबोध–

असलमें मनको पहचानना अपनी तटस्थताको पहचानना है। पहचानेंगे मनको और अपनेको तटस्थ और कूटस्थ जानेंगे। इसी तटस्थ और कूटस्थको श्रुति झटपट लखा देगी कि—'यह अद्वितीय ब्रह्म है।'

इसमें न परोक्ष ईश्वर है, और न अभिमानी जीव है, न प्रत्यक्ष जगत् है। 'एक अद्वितीय पर ब्रह्म परमात्मा ही है'—यह बात श्रुति बता देगी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

परिशिष्ट

मनका वशीकरण

प्रश्न—'मनको वैज्ञानिक रीतिसे किस प्रकार वशमें किया जाय?'

महाराजश्री—'घोड़ेकी प्रकृति देख कर उसको वशमें करते हैं। किसीका घोड़ा ऐसा होता है कि लगाम ढीला छोड़ देनेसे ठीक चलता है और किसीका होता है कस कर रखनेसे ठीक चलता है। सवार जब आते थे हमारे घोड़ोको फेरनेके लिए, तो हमने यह देखा है। सबकी अलग-अलग प्रकृति होती है।'

किसीका मन तो दबाव डालनेसे ठीक चलता है और किसीका मन छोड़ देने पर भी कायदेसे चलता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्तिके अनुसार धर्मके द्वारा भी मन पर कंट्रोल होता है। उपासनाके द्वारा, योगके द्वारा, तत्त्वज्ञानके द्वारा या पकड़नेसे भी होता है और छोड़नेसे भी होता है।

इसलिए जिसका मन जैसा हो, वह अपने गुरुसे किसी जानकारसे या अनुभवीसे सलाह करके मनका वशीकरण करे। यदि वह अपने मनसे करेगा तो उसका मन स्वतन्त्र हो जायगा और दूसरेके मनसे करेगा तो उसका मन जल्दी-से-जल्दी वशीभूत हो जायगा।